बारहवीं शताब्दी तक के संस्कृत महाकाव्यों में विप्रलम्भ शृङ्गार – एक अध्ययन

[इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिये प्रस्तुत]

शोध - प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्री

(कुमारी) मंजुला अग्रवाल

एम्० ए०

निर्देशक

पं० लक्ष्मीकान्त दीक्षित

प्रोफेसर

संस्कृत, प्राकृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सन् १९८० ई०

अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां

जगद्ग्रावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च ।

क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति त -

त्सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते ॥

— आनन्दवर्धन

प्राक्कथन

पूज्य पिताजी की धार्मिक निष्ठा एवं ब्राह्मण संस्कारों के कारण बाल्यकाल से ही संस्कृत के अध्ययन के प्रति अनुराग उत्पन्न हो चुका था। अध्ययन की प्रारम्भिक अवस्था में ही संस्कृत को अध्ययन का मुख्य विषय बनाने की धारणा उत्पन्न हो चुकी थी। जब एम० ए० परीक्षा (संस्कृत) में मुझे प्रथम श्रेणी प्राप्त हुयी तो संस्कृत में शोध कार्य करने की भावना अधिक प्रखर हो उठी। तब मैने अपने अध्ययन का विषय "बारहवीं शताब्दी तक के संस्कृत महाकाव्यों में विप्रलम्भ शृङ्गार— एक अध्ययन" बनाया और पं० रमाकान्त दीक्षित के सुयोग्य निर्देशन में इसी विषय पर कार्य करने लगी।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध सिद्धान्त पक्ष और प्रयोग-पक्ष दो खण्डों में विभाजित किया गया है। प्रथम खण्ड में विप्रलम्भ शृङ्गार के सिद्धान्त का निरूपण तथा द्वितीय खण्ड में अवधि विशेष में विरचित महाकाव्यों में प्रयुक्त विप्रलम्भ शृङ्गार का अध्ययन प्रस्तुत है।

इस प्रबंध की प्रस्तुति में सबसे महत्वपूर्ण योगदान मेरे स्व० पूज्य पिताजी एवं 'स्नेहमयी' मां को है। परन्तु शोध कार्य में प्रवेश लेने के दो वर्ष पश्चात् पिताजी का स्वर्गवास हो गया, किन्तु उस समय मां की कर्मठता एवं धीरता के कारण मैं घरेलू चिन्ताओं से मुक्त रहकर साहित्यदेवता की आराधना में संलग्न रही। परन्तु इन दोनों के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करना औपचारिकता मात्र होगा। प्रस्तुत शोध-प्रबंध की पूर्ति प्रभु की कृपा और गुरुजनों के आशीर्वाद का फल है। ज्ञान-प्रतिभा-गरिष्ठ यशस्वी डा० आद्या प्रसाद मिश्र (तत्कालीन अध्यक्ष, वर्तमान कुलपति) संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के चरणों में श्रद्धा-भक्ति व्यक्त करती हूं। उन्होंने ही इस विषय पर मुझे कार्य करने की अनुमति प्रदान कर अपने जिस स्नेह का परिचय दिया है, उसका मूल्याङ्कन करने में मैं अपने आपको असमर्थ पाती हूं।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय संस्कृत विभाग में प्रोफेसर पद पर प्रतिष्ठित अपने गुरु पं० लक्ष्मीकान्त दीक्षित जी की ही सत्प्रेरणा एवं सत्परामर्श के परिणाम स्वरूप मैं यह शोध-प्रबंध प्रस्तुत कर सकी हूं। उन्होंने सदैव अपनी सहज प्रतिभा और अगाध पाण्डित्य के बल पर मेरी शास्त्रीय शंकाओं का सदैव सद्यः समाधान किया है। उनके उदार सहयोग, सक्रिय सहायता, अमूल्य निर्देशन एवं आशीर्वाद के बिना मैं इस शोध कार्य के पूर्ति की कल्पना भी नहीं कर सकती थी। उनके अनुग्रह का मैं विनम्र हृदय से आभार प्रकट करती हूं।

डा० (श्री) सुरेश चन्द्र पाण्डेय जी के प्रति भी श्रद्धा से समन्वत हूं जिनकी स्नेह एवं समालोचना से लाभान्वित हूं। विशेष रूप से पूज्य भाई श्री सूर्यमणि पाण्डेय 'एडवोकेट' की आभारी हूं जिन्होंने मेरे प्रति इस कार्य में जिस स्नेह का परिचय दिया है उसका मूल्याङ्कन करने में अपने आपको असमर्थ पाती हूं।

मुझे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अतिरिक्त गंगानाथ झा शोध संस्थान, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, काशी विद्यापीठ एवं वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय आदि पुस्तकालयों से पर्याप्त सहायता प्राप्त हुयी है। मैं इन पुस्तकालयों के अधिकारियों एवं कर्मचारियों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करती हूं। साथ में जिन ग्रन्थ रत्नों का प्रस्तुत शोध-प्रबंध में उपयोग किया गया है, मैं उन सबके लेखकों के प्रति श्रद्धा-स्निग्ध आभार प्रकट करती हूं। राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान शिक्षा मंत्रालय, नयी दिल्ली द्वारा आर्थिक सहायता के रूप में छात्रवृत्ति प्राप्त हुयी है एतदर्थ मैं संस्थान की आभारी हूं।

टंकण प्रक्रिया में श्री श्यामलाल तिवारी के प्रति आभार प्रकट करती हूं जिन्होंने बड़ी तत्परता एवं सावधानता से टंकण कार्य किया है तथापि मानवगत विवशता के कारण जो त्रुटियां रह जाती हैं, मैं उनके लिये विद्वद्-चरणों से भूयोभूयः क्षमाप्रार्थी हूं।

अन्त में मैं अपनी समस्त कमियों एवं कुण्ठाओं के लिये क्षमा-याचना करती हूं। प्रस्तुत प्रबंध कैसा बन पड़ा है इसका निर्णय तो सुधी विचारक ही करेंगे। इसकी प्रस्तुति कर मैं आत्यन्तिक शान्ति का अनुभव कर रही हूं —

आपरितोषाद् विदुषां न साधुमन्ये प्रयोग विज्ञानम् ।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥

मंजुला अग्रवाल
(कु० मंजुला अग्रवाल)

दिनांक :
१८.६.८०

विषयानुक्रमणिका

विषय | | पृष्ठ संख्या

विषय | पृष्ठ संख्या

सङ्केताक्षर-सूची

अ० को० - अमरकोश

अ० पु० का का० भा० - अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग

अ० सा० सं० - अलंकारसारसंग्रह

औ० वि० च० - औचित्यविचारचर्चा

अ० भा० - अभिनवभारती

अ० शा० - अभिज्ञानशाकुन्तल

उ० नी० म० - उज्ज्वलनीलमणि

उ० रा० च० - उत्तररामचरित

का०(रु०) - काव्यालङ्कार

का० (भा०) - काव्यालङ्कार

का० प्र० - काव्यप्रकाश

का० सू० वृ० - काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति

का० मी० - काव्यमीमांसा

का० वि० - काव्यांग विवेचन

काव्या० - काव्यादर्श

काव्यानु० - काव्यानुशासन

कादम्ब० पूर्वभाग - कादम्बरी पूर्वभाग

कु० सं० - कुमारसंभव

किराता०	-	किरातार्जुनीय
चन्द्र०	-	चन्द्रप्रभचरित
वाक्की०	-	वाक्कीरण
द० रू०	-	दशरूपक
दे० और बि०	-	देव और बिहारी
धर्म०	-	धर्मशर्माभ्युदय
ध्वन्या०	-	ध्वन्यालोक
नेमि०	-	नेमिनिर्वाण
नै० परि०	-	नैषध-परिशीलन
ना० शा०	-	नाट्यशास्त्र
नै०	-	नैषधीयचरित
न० च०	-	नलचम्पू
ना० ल० र० को०	-	नाटक-लक्षण-रत्न-कोश
ना० द०	-	नाट्यदर्पण
न० च०	-	नल चम्पू
प्र० रु० य०	-	प्रतापरुद्रयशोभूषण
पार्श्व०	-	पार्श्वनाथचरित
प्रद्यु०	-	प्रद्युम्नचरित
पुरु०	-	पुरुचरित

भ० का० - भट्टिकाव्य

भा० प्र० - भावप्रकाशन

भा० तथा पा० का० - भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र

मेघ० ए० अ० - मेघदूत एक अध्ययन

र० सि० - रस सिद्धान्त

र० मं० - रस मंजरी

र० तं० - रस तरंगिणी

र० दी० - रस-दीपिका

र० गं० - रसगंगाधर

र० सु० - रसार्णवसुधाकर

र० क० - रस कलश

र० रा० - रसराज

रा० मं० - रामायणमंजरी

व० जी० - वक्रोक्तिजीवित

वर्ध० - वर्धमानचरित

विक्रमो० - विक्रमोर्वशीय

श० क० द्रु० - शब्दकल्पद्रुम

शृं० ति० - शृंगार तिलक

शिशु०	-	शिशुपालवध
स० कं०	-	सरस्वती कंठाभरण
सा० द०	-	साहित्यदर्पण
सं० सा० का० इ०	-	संस्कृत साहित्य का इतिहास
सं० सा० की रू०	-	संस्कृत साहित्य की रूपरेखा
शृ० प्र०	-	शृङ्गार प्रकाश
शृ० र० का शा० वि०	-	शृङ्गाररस का शास्त्रीय विवेचन

-o-

प्रथम परिच्छेद

-o-

निष्पन्न मूल्य-मापन—सिद्धान्त एवं प्रयोग

प्रथम परिच्छेद

-o-

विप्रलम्भ शृंगार—सिद्धान्त एवं प्रयोग

काव्य में रस का स्वरूप

काव्य में रस ही मुख्य और सर्वोपरि चमत्कार आस्वादनीय पदार्थ है। संस्कृत साहित्य में अनेक विद्वानों के उर्वर मस्तिष्क की अनुपम कृतियां विद्यमान हैं। इन विद्वानों ने अपनी प्रखर प्रतिभा से इस साहित्य को गौरवान्वित किया है, किन्तु एक ही तत्व को देखने में प्रत्येक मनीषी की अपनी स्वतंत्र विचार-धारा रही है अतः सबने अपने ही ढंग से विवेचन किया है। यही कारण है एक ही तत्व के चिन्तन में भी विविध आचार्यों में मतैक्य नहीं रहा है।

"भारतीय सौन्दर्य-दर्शन का मूल आधार है काव्यशास्त्र। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से सौन्दर्य चेतना एक मिश्र-वृत्ति है। इसके मौलिक तत्व हैं — १- प्रीति अर्थात् आनन्द और २- विस्मय। भारतीय काव्यशास्त्र इस रहस्य से आरम्भ से ही अवगत था : रस और अलंकार, क्रमशः प्रीति और विस्मय के ही शास्त्रीय विकास हैं। सौन्दर्य के आस्वाद में निहित प्रीति तत्व का प्राधान्य रस-सिद्धान्त में प्रस्फुटित और विकसित हुआ और उधर विस्मय तत्व की प्रमुखता ने वक्रता, अतिशय आदि के माध्यम से अलंकारवाद का रूप धारण किया। इन दोनों में रस-सिद्धान्त केवल कालक्रम की दृष्टि से ही नहीं वरन् प्रसार और प्रचार की दृष्टि से भी अधिक महत्वपूर्ण है—वास्तव में भारतीय काव्यशास्त्र की आधारशिला यही है।"[1]

---

१ रस सिद्धान्त (डा० नगेन्द्र) पृ० ३

रससिद्धान्त का प्रतिपादक प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' है जो भरतमुनि की रचना के रूप में उपलब्ध है । भरत ने स्पष्टत: नाटक को ही वाङ्मय का अभीष्ट रूप माना है, और नाटक का प्राण रस है कोई भी नाट्यांग रस के बिना नहीं चल सकता है[१]। अत: भरत के अनुसार रस का स्थान नाट्य है ।

भरत के अनन्तर संस्कृत आचार्यों का ध्यान नाट्य से हटकर काव्य पर केन्द्रित होने लगा । अलंकारवादियों ने रस का अन्तर्भाव अलंकार में कर दिया । रस की परिभाषा अब भी वही रही अर्थात विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से पुष्ट स्थायी भाव को ही रस की संज्ञा दी गयी ; पर उसकी सत्ता स्वतंत्र नहीं रही, वह रसवद् अलंकार का पोषक तत्त्व बन गयी । रसवद् अलंकार का अर्थ है वह अलंकार जो रस से युक्त हो । इस मत के अनुसार रस की स्थिति अलंकार विशेष में है और अलंकार विशेषत: शब्द अर्थ के धर्म का नाम है । अत: रस की स्थिति भी शब्द अर्थ में हुयी और यह शब्द अर्थ ही काव्य है 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् '। इस प्रकार भामह, दण्डी और उद्भट आदि अलंकारवादियों के अनुसार काव्य ही रस का स्थान सिद्ध होता है ।

संस्कृत साहित्य के आलंकारिकों में भरत के पश्चात् रुद्रट प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने रसों का विवेचन किया है । यद्यपि रुद्रट के पूर्व के अन्य आचार्यों ने रस पर दृष्टिपात अवश्य किया किन्तु उनकी विचारधारा के अनुसार वह अलंकारमात्र था । वे रसवद् अलंकार मानते थे । अधिक काल तक यही दशा अक्षुण्ण बनी रही । रुद्रट प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने रस को अलंकार की श्रेणी से बाहर निकाला और काव्यशास्त्र में एक स्वतंत्र स्थान निर्धारित किया —'स्वादु काव्यरस युक्त शास्त्र का भी उपयोग किया जाता है जो पहले मधुर चाट लेते हैं वे कटु औषधि

---

१ न हि रसादृते कश्चिदर्थ: प्रवर्तते ।

(ना० शा० अ० ६।३१ का परवर्ती गद्य भाग)

(ङ.) काव्य में रीतियों का प्रयोग रसों के अनुसार होना चाहिए : शृंगार और करुण, भयानक और अद्भुत में वैदर्भी तथा पांचाली का और रौद्र रस में लाटीया तथा गौडीया का । अन्य रसों में भी इन रीतियों का यथोचित प्रयोग करना चाहिए।[1]

ये ही वे महनीय तत्व हैं जिनसे शास्त्रों की अपेक्षा चतुर्वर्ग का बोध सम्यक् रूप से सरल व्यक्तियों को हो सकता है । काव्य को रमणीय होने के लिये इन रसों से युक्त होना आवश्यक है इसके बिना काव्य रम्य नहीं हो सकता । रुद्रट का यह प्रतिपादन रस को आत्मकोटि के सन्निकट सिद्ध करता प्रतीत होता है । इसलिये डा० शंकरन का मत है —

"Rudrata appears at the close of the period dominated by three schools —— Alankara, Guna and Riti, and at the commencement of one in which by formulation of the Principle of Dhvani, the Rasa theory is established one a firm footing. It is significant that at this transitional stage he should endeavour to effect a reconciliation between the two opposing camps and pave the way for the determination of the proper place of the different principle in the evaluation of poetry."[2]

वास्तव में रुद्रट देहवादी और आत्मवादी धाराओं के संगम पर खड़े हैं — उनके समय तक आते-आते काव्यशास्त्र में अलंकार की पकड़ ढीली पड़ने लग गयी थी और रस के प्रति आकर्षण फिर बढ़ने लगा था । रस की यह धारा जो भरत के नाट्यशास्त्र से उद्भूत हुई थी उनके टीकाकारों के द्वारा परिपोषित होती हुई ईसा की नवीं शताब्दी तक आते-आते नाट्य के क्षेत्र का अतिक्रमण कर काव्य में प्रवेश

---

१ वैदर्भीपांचाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः ।
लाटीयागौडीये रौद्रे कुर्याद् यथौचित्यम् ॥ — काव्या० १५।२०

२ Theory of Rasa and Dhvani - Dr. Shankaran
(Varsity of Madras- 1929)

करने लगी थी और रस ध्वनि सिद्धान्त के लिये भूमि तैयार हो चुकी थी[1]। रुद्रट के ही समसामयिक रुद्रभट्ट अलंकारवादी उद्भट के 'नव नाट्ये रसाः स्मृताः' का संशोधन कर 'नव काव्ये रसाः स्मृताः'[2] की घोषणा कर चुके थे।

इस प्रकार रुद्रभट्ट का मूल प्रतिपाद्य रस ही है। काव्य रस के बिना शोभित नहीं होता है अतः काव्य में रस की अत्यधिक आवश्यकता है। रुद्रभट्ट का ही कथन है — जैसे चन्द्रमा के बिना रात्रि, पति के बिना नारी और त्याग के बिना लक्ष्मी, इसी प्रकार रस के बिना कविता शोभा नहीं देती[3]। उदाहरणार्थ— "सैद्धान्तिक दृष्टि से ही नहीं व्यवहार में भी—कालिदास का काव्य रस से ओतप्रोत है— रस के जितने प्रचुर तथा परिष्कृत उदाहरण कालिदास के दृश्य और काव्यों में मिलते हैं उतने अन्यत्र दुर्लभ हैं — उनमें शृङ्गार के संयोग तथा विप्रलम्भ दोनों रूपों का अद्भुत परिपाक है, वीर और करुण पर भी उनका समान अधिकार है तथा शेष रसों का भी यथाप्रसंग समावेश है।"[4]

काव्य के स्वरूप के विषय में प्राचीन आचार्यों में बहुत मतभेद रहा है। अलंकारवादी आचार्य भामह की दृष्टि में शब्द और अर्थ का साहित्य ही काव्य था[5]। वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक ने सामान्य शब्द और अर्थ को काव्य नहीं स्वीकार किया। उनकी दृष्टि में वक्रता व्यापार से युक्त शब्द और अर्थ काव्य थे।

---

१ सं० का० सं० ४।४

२ शृं० ति० १।५

३ यामिनीवेन्दुना मुक्ता नारीव रमणं विना।
लक्ष्मीरिव ऋते त्यागान्नो वाणी भाति नीरसा॥ —शृं० ति० १।६

४ र० चि० - पृ० ३१

५ शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् - - - । — का० (भा०) १।१६

६ शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम् तद्विदाह्लादकारिणि॥
— व० जी० १।७

मम्मट ने अदुष्ट शब्दार्थ को काव्य माना है[1]। साहित्यदर्पणकार के अनुसार रसात्मक वाक्य ही काव्य है[2]। इसी प्रकार काव्य के जीवातु के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद रहा है। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है[3]। कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवित सिद्ध किया था, तो क्षेमेन्द्र ने औचित्य को ही काव्य का प्राण बतलाया था[4]। इन विभिन्न मतों के होते हुये भी काव्य के समस्त सिद्धान्तों में रस सिद्धान्त सर्वाधिक व्यापक तथा महत्वपूर्ण है।

इससे पहले राजशेखर ने रस को काव्य की आत्मा कहा था[5]। अग्निपुराण के अनुसार काव्य में यदि वाग्वैदग्ध्य की प्रधानता मान ही जाये तो भी काव्य का जीवित तो रस ही को मानना पड़ेगा[6]। आनन्दवर्धन ने ध्वनि के तीन तत्वों वस्तु, अलंकार और रस — ये रस ध्वनि को प्रमुखता प्रदान की है। वस्तु और अलंकार ध्वनियों को रस पर्यवसायी मानकर उन्होंने रस को यथेष्ट महत्व दिया है[7]।

---

१ तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि । — का०प्र० १।४

२ वाक्यं रसात्मकं काव्यम् । — सा० द० १।३

३ रीतिरात्मा काव्यस्य । — का० सू० वृ० १।२।६

४ काव्यस्यालङ्कारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः ।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते ॥

औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥
— औ० वि० च० ४,५

५ शब्दार्थौ ते शरीरम् — रस आत्मा - - - -
अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ्कुर्वन्ति ।
— का० मी० पृ० १६

६ वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् ।
— अ० पु० काव्य० अ० १।३३

७ तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलङ्कारध्वनि
तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते ।
—ध्वन्या०(लोचन) १।५ वृत्ति

हिन्दी के कवियों को भी प्राय: काव्य का यही स्वरूप मान्य था। मिश्र जी के शब्दों में -'शब्द अर्थ अथवा दोनों की रमणीयता से युक्त वाक्य रचना को काव्य कहते हैं।'[1] शुक्ल जी ने भी कहा है, 'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिये मनुष्य की वाणी जो शब्दविधान करती आयी है, उसे कविता कहते हैं[2]।

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' यह भरतमुनि का सूत्र है इसका आशय यह है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से परिपुष्ट रत्यादि स्थायीभाव आस्वाद की अवस्था को प्राप्त होकर रस कहलाते हैं। यह भरत का मूल सूत्र सीधा-सा जान पड़ता है परन्तु यह बड़ा विवादग्रस्त रहा है। अनेक आचार्यों ने इसकी अनेक प्रकार से व्याख्या की है। 'काव्यप्रकाश' में आचार्य मम्मट ने इनमें से— १- भट्टलोल्लट, २- श्रीशङ्कुक, ३- भट्टनायक, ४- अभिनवगुप्त-पादाचार्य के चार मतों का उल्लेख किया है।

भरत ने नाट्यशास्त्र में आठ रस[3] और आठ स्थायी[4] भाव की गणना की है। कालिदास ने विक्रमोर्वशीय नाटक में अष्ट रस की मानने का समर्थन करते हुये भरत की ओर संकेत किया है[5]। भरत द्वारा मान्य आठ रसों और आठ

---

१ का० मि०, पृ० १०

२ चिन्तामणि - भाग १, पृ० १४५

३ शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥
— ना० शा० ६।१५

४ रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥ —ना०शा० ६।१७

५ मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो निबद्धः ।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता, मरुतां द्रष्टुमनाः स लोकपालः ॥
—विक्रमो० २।१७

स्थायी भावों के सिद्धान्त का समर्थन करने वाले काव्याचार्यों का मत है कि भरत ने शान्त को रस रूप में मान्यता नहीं दी है और उन्होंने 'शम' अथवा 'निर्वेद' का उल्लेख स्थायीभाव के रूप में नहीं किया है । इस प्रकार भरत से लेकर अमरसिंह,[1] भामह,[2] दण्डी[3] आदि के आठ रसों का सिद्धान्त मान्य रहा है ।

शान्त रस का सर्वाधिक विरोध करने वालों में धनञ्जय और धनिक प्रमुख हैं । धनञ्जय ने स्पष्ट कहा है कि 'नाटक में शान्त रस की पुष्टि नहीं हो सकती इसलिये नाट्य में शान्त रस नहीं माना जा सकता । निर्वेद एक व्यभिचारी भाव है उसका स्वाद कैसे लिया जा सकता है । विरस होने के कारण इसमें स्वाद का प्रश्न ही नहीं उठता इसीलिये स्थायी-भाव भी आठ हैं क्योंकि नाट्य-व्यापार का अभाव होने के कारण निर्वेद का अभिनय नहीं किया जा सकता ।'[4]

किन्तु उद्भट ने शृङ्गारादि एवं शम भाव से शान्त को मिलाकर नव रसों का कथन किया है[5]। कुछ विद्वानों का मत है कि उद्भट ने ही भरत के नाट्य-शास्त्र में नव रसों, नव स्थायी भावों तथा शान्त रस से सम्बन्ध पद्यों को जोड़ दिया है[6]। इससे यह सिद्ध होता है कि अभिनवगुप्त से बहुत पूर्व उद्भट के समय तक शान्त रस का रस रूप में स्वीकार कर लिया गया था ।

---

1 शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतहास्यभयानकाः । बीभत्सरौद्रौ च रसाः ।
—अ० कोश, पृ० १००

2 रसैश्च सकलैः......। — काव्या० (भाम०) १।२१

3 इह त्वष्ट रसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम् । —काव्यादर्श २।२९२

4 शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ।
निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम् ।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः ।।— दशरू० ४।३५,३६

5 शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः ।। —काव्यालं० ४।४

6 He is the first commentator on the N.S. and the first Alankarika now known to have definitely begun to speak of Rasas as nine in number.

—H. S. of R. P. 15.

महाकाव्य में रस का स्थान

भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार महाकाव्य में एक रस अङ्गी होता है अन्य रस गौण या अङ्ग रूप में रखे जाते हैं । अङ्गी रस का प्रश्न सर्वप्रथम आनन्दवर्धन ने ही उठाया है — 'प्रबन्धों (महाकाव्य या नाटकादि) में अनेक रसों का समावेश प्रसिद्ध (भरतमुनि आदि से प्रतिपादित तथा प्रचलित) होने पर भी उनके उत्कर्ष को चाहने वाले (कवि) को किसी एक रस को अङ्गी (प्रधान) रस अवश्य बनाना चाहिये।[1]' किन्तु महाकाव्य में एक रस प्रधान होना चाहिए इसकी कल्पना मूलत: भरत में ही मिल जाती है --'महाकाव्य में वर्णित अनेक रसों में से जो बहु अर्थात् अधिक या प्रधान रूप से विद्यमान रहता है, वह रस स्थायी या अङ्गी और शेष रस संचारी या अंगभूत होते हैं।[2]'

किन्तु प्रधान रस के विषय में दो मौलिक शंकाएं उठती हैं -- (१) रस तो उसी का नाम है जो स्वयं चमत्कार-रूप है । यदि उसकी स्व-चमत्कार रूप में विश्रान्ति नहीं होती है तो वह रस ही नहीं है । अङ्गाङ्गिभाव अथवा उप-कार्य उपकारक-भाव मानने में तो अंगभूत या उपकारक रस की स्वचमत्कार में विश्रान्ति नहीं हो सकती है । अत: वह रस नहीं कहला सकता है रस वह तभी होगा जब स्व-चमत्कार में ही उसकी विश्रान्ति हो जाए उस दशा में वह किसी दूसरे का अंग नहीं हो सकता है । इसलिये रसों में अङ्गाङ्गिभाव सम्भाव्य नहीं है, (२) विरोधी रसों की अङ्गता कैसे मान्य हो सकती है ? विरोध दो प्रकार से होता है --(क) सहानव-स्थान भाव से और (ख) बाध्य बाधक या वध्य-घातक भाव से । सहानवस्था भाव से विरोध का य अर्थ यह है कि विरोधी रस समान रूप से एक साथ नहीं रह सकते --बध्य

---

१ प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने ।
एको रसोऽङ्गीकर्तव्यस्तेषामुत्कर्षमिच्छता ॥

— ध्वन्या० ३। २१

२ बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद् बहु ।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः सञ्चारिणो मताः ॥

— ना० शा० ७।१२०

घातक भाव का अर्थ यह है कि एक का उदय होते ही दूसरे का विघात हो जाता है । वीर और शृङ्गार या शृङ्गार और हास्य या रौद्र और शृङ्गार का अथवा वीर और अद्भुत का या रौद्र और करुण का यह फिर शृङ्गार एवं अद्भुत का विरोध सहानवस्थान भाव से है । क्योंकि ये दोनों तो साथ-साथ रह सकते हैं किन्तु दोनों का समान उत्कर्ष नहीं होना चाहिए । अतः इनका विरोध अधिक उग्र नहीं है और इसी अनुपात से इनका अङ्गाङ्गिभाव भी दुस्साध्य नहीं है । परन्तु शृङ्गार और बीभत्स का या वीर और भयानक का अथवा शान्त और रौद्र का या शान्त और शृङ्गार का बाध्य बाधक भाव से विरोध है इसलिये इनका अंगांगि सम्बन्ध कैसे हो सकता है[1] ?

आनन्दवर्धन को इन आक्षेपों का परिज्ञान है । सम्भवतः उनके समय में रसों के अंगांगिभाव की विरोधी कोई परम्परा भी विद्यमान थी और इसका प्रमाण यह है कि भामह से लेकर आचार्य विश्वनाथ तक सभी ने महाकाव्य में रस की योजना पर बल दिया है । भामह, दण्डी, रुद्रट आदि सभी ने महाकाव्यादि में रसों के समवेत वर्णन का ही उल्लेख किया है - एक अंगी रस की ओर किसी ने भी संकेत नहीं किया :

भामह - रसैश्च सकलैः पृथक्[2] ।
दण्डी - रसभावनिरन्तरम्[3] ।
रुद्रट - सर्वे रसाः क्रियन्ते काव्यस्थानानि सर्वाणि[4] ।

वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक ने भी प्रकरण वक्रता और प्रबन्ध वक्रता के विधान में रस की प्रतिष्ठा स्पष्ट शब्दों में की है । उनके विचार से निरन्तर रस को प्रवाहित करने वाले सन्दर्भों से परिपूर्ण कवियों की वाणी कथामात्र

---

१ ध्वन्या०, पृ० ३४२ पृ० उ०

२ काव्या० १। २१

३ काव्यादर्श १। १८

४ काव्या० (रु०) १६। ५

रसों के वर्णों का वर्णन करते हुये आचार्य भरत ने शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत रसों का वर्ण क्रमशः श्याम, सित, कपोत, रक्त, गौर, कृष्ण, नील, पीत बतलाया है[1]। शब्दों के पर्यायों में मेघ और श्यामा शब्दों की भी गणना की गयी है[2]। मेघ शृङ्गार रस के उद्दीपक होते हैं चाहे संयोग हो या विप्रलम्भ। श्यामा उस स्त्री को कहते हैं जो अप्रसूता है[3]। श्यामा स्त्री का लक्षण इस प्रकार बतलाया है— कि जिस स्त्री के अंग शीतकाल में सुखकर और उष्ण तथा ग्रीष्म ऋतु में सुखकर शीतल प्रतीत होते हैं तथा जिसकी आभा तपाये गये स्वर्ण के समान होती है वह श्यामा कहलाती है[4]। मल्लिनाथ के अनुसार श्यामा का अभिप्राय `मध्ययौवना स्त्री`[5]। इसके अतिरिक्त शब्दकल्पद्रुम में श्याम शब्द को कोकिल का पर्याय बतलाया गया है[6]। मेघों के समान कोकिल को भी संयोग तथा वियोग दोनों प्रकार के शृङ्गारों का उद्दीपक माना गया है। श्याम के साथ मेघ, कोकिल तथा श्यामा (यौवन मध्यस्था) स्त्री का सम्बन्ध होने के कारण ही सम्भवतः इसे शृङ्गार रस का वर्ण माना गया है।

---

१ श्यामो भवति शृङ्गारः सितो हास्यः प्रकीर्तितः ।
कपोतः करुणश्चैव रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः ॥
गौरो वीरस्तु विज्ञेयः कृष्णश्चैव भयानकः ।
नीलवर्णस्तु बीभत्सः पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः ॥
-- ना० शा० ६।४२, ४३

२ अ० को० (रामाश्रमी) १,५,१४

३ वही

४ शीते सुखोष्णसर्वाङ्गी ग्रीष्मे या सुखशीतला ।
तप्तकाञ्चनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कथ्यते ॥
— प० का० ५।१८

५ श्यामा यौवनमध्यस्था
—शिशु० ८।३६ टीका, मे० उ० ३।८ टीका

६ श० क० द्रु०, पृ० १९६

इस प्रकार उक्त आचार्यों के अनुसार शृङ्गार को सर्वोत्कृष्ट रस मानने के दो प्रमुख कारण हैं —

१- रति (काम) सर्वकाम्य है ।

२- शृङ्गार रस में सर्वाधिक, अपितु सभी स्थायी भावों और संचारी-भावों का समावेश संभव है । वस्तुतः इतना ही नहीं, सभी अनुभावों और सात्विक रस के दोनों भेदों-संयोग और विप्रलम्भ के साथ सम्भव हैं ।

उक्त दो कारणों के अतिरिक्त शृङ्गार के अतिरिक्त शृङ्गार को सर्वोत्कृष्ट रस मानने के कतिपय अन्य गौण कारण भी है --

१- यह रस सर्वाधिक व्यापक है और इसका प्रमाण है । इस रस से सम्बन्धित निम्नोक्त काव्य तत्व --

(क) विप्रलम्भ शृङ्गार रस के पांच भेद पूर्वराग, मान प्रवास, करुण और शापहेतु तक ।

(ख) काम की 'चक्षुःप्रीति' आदि बारह तथा अभिलाषा आदि दस अवस्थायें।[1]

२- केवल यही एक रस है जिसमें दोनों आलम्बनों (आलम्बन और आश्रय) की चेष्टायें एक दूसरे को उद्दीप्त करती हैं । अन्य रसों के आलम्बन युगल परस्पर शत्रु अथवा उदासीन है पर केवल इसी रस के ही आलम्बन परस्पर घनिष्ठ मित्र है ।

३- समय-समय पर विभिन्न आचार्यों द्वारा स्वीकृत, सौहार्द, भक्ति तथा कथित रसों का भी शृङ्गार रस की व्यापकता में अन्तर्भाव हो जाता है ।

शृङ्गार की महिमा का हिन्दी के रीतिकाल में और भी विस्तार हुआ है- केशव, चिन्तामणि, देव आदि आचार्य कवियों ने शृङ्गार को रसराज घोषित किया है । केशव[2], मतिराम[3] तथा सोमनाथ[4] प्रधान रस के अतिरिक्त मूल एवं एकमात्र रस के रूप

---

१ (क) मु० ह० म० - पृ० १६५ (ख) सा० द० ३।१९०

२ सबको केशवदास हरि, नायक है शृङ्गार ।। -- र० प्रि० १।१६

३ जो बरनत जिमि पुरुष को, कवि कोविद रसिनाथ ।
ताको रीझत है कुमति, जो सिंगार रसराज ।। --र०रा०, पृ० ३४२

४ नव रस को नायक कहत कवि रस सिंगार पहिचानि ।
— र० पी० निधि ८।१

भी उसकी वाग्रह की है ।

रीतिकालोत्तरवर्ती युग में, अयोध्यासिंह उपाध्याय, कृष्ण बिहारी मिश्र एवं गुलाबराय ने शृङ्गार के रसराजत्व पर पर्याप्त प्रकाश डाला है । इस सम्बन्ध में उपाध्याय जी का मत इस प्रकार है — '..... मैंने भी रस निरूपण में अग्निपुराण के आधार पर यह प्रतिपादित किया है कि आद्य रस शृङ्गार है और अन्य रसों की उत्पत्ति इसी से हुयी है, अतएव शृङ्गार रस का प्राधान्य स्पष्ट है ।'[1]

पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने भी शृङ्गार को रसराज कहकर अन्य सभी रसों में श्रेष्ठ कहा है । उनके शब्दों में --'शृङ्गार रस को रसराज कहने में भाषा भाषियों को दोष न देना चाहिए । मनोविकारों के स्थायित्व और विकास की दृष्टि से शृङ्गार-रस सचमुच सब रसों का राजा है ।'[2]

गुलाबराय जी के शब्दों में --'शृङ्गार रस को सभी रसों से ऊँचा स्थान दिया गया है । इसे रसराज भी कहा गया है । यह वस्तुतः गुणों का गुरु, रसों का राजा, प्रेम, प्रमोद का अधिष्ठाता और प्रीति का प्राण है ।'[3]

अन्त में निष्कर्ष रूप में हम यही कह सकते हैं कि रसास्वादन की उत्कटता, विरोधी रसों को भी अपने में समाहित करने की योग्यता, सभी संचारियों एवं सात्त्विकों को आत्मसात करने की सामर्थ्य ; सृष्टि के सभी जड़-चेतन तत्त्वों में व्यापकता तथा [illegible] सुलभता आदि-आदि विशेषताओं के कारण ही आचार्यों ने इसे रसराज की उपाधि से विभूषित किया है ।

विभाव, अनुभाव, संचारिभाव के द्वारा[4] ही रस की व्यंजना होती है --शृङ्गार रस के <u>आलम्बन विभाव</u> नायक-नायिका है ।

---

१ र० क० - भूमिका, पृ० ८६

२ दे० औ० बि०, पृ० ८२

३ नव रस - पृ० २०

४ आलम्बन- विभावोऽस्य नायिका-नायकोऽपि च: । -- रसमं० ॥८॥ पृ० १०

मद, जड़ता, उग्रता, मोह, शंका, चिन्ता, ग्लानि, विषाद, व्याधि आलस्य, अमर्ष, हर्ष, गर्व, असूया, धृति, मति, चापल्य, व्रीडा, अवहित्था, निद्रा, स्वप्न, विबोध, उन्माद, अपस्मार, स्मृति, औत्सुक्य, त्रास, वितर्क तथा मरण[1]। इनमें से उग्रता, आलस्य, तथा मरण प्रभृति तीन-चार को छोड़कर सभी संचारिभाव आचार्यों के मतानुसार शृंगार रस के क्षेत्र में आ जाते हैं। हमारी दृष्टि में यदि परम्परा के स्थान पर वास्तविकता की दृष्टि से देखा जाए तो सारे संचारी भाव शृंगार के क्षेत्र में आ जाते हैं यही नहीं, जागृति, स्वप्न, एवं सुषुप्ति की स्थितियों में किसी न किसी रूप में वे विप्रलम्भ शृंगार के क्षेत्र में भी आ जाते हैं। दूसरे किसी रस को अनुभावों तथा संचारी भावों की इतनी व्यापक भूमि नहीं प्राप्त है। विरहिणी नायिका की काम-दशा का 'साहित्य दर्पण' प्रभृति ग्रंथों में दस प्रकार से वर्णन किया गया है। काम-दशाओं के नाम है --अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता तथा मरण[2]। वास्तव में कामदशायें संचारी भावों से विरह के विशेष अनुकूल प्रवृत्तियों का चयन मात्र है। संस्कृत के अनेक कवियों ने विप्रलम्भ शृंगार में काम-दशाओं का विशद्-वर्णन किया है।

---

१ निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूया मदः श्रमः ।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ॥
सुप्तं विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥

-- ना० शा० ६। १८-२१

२ अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसंप्रलापाश्च ।
उन्मादो च व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः ॥

--सा० द० ३। १९०

शृङ्गार रस के भेद

शृङ्गार रस मुख्यत: दो प्रकार का होता है । संयोग तथा विप्रलम्भ । भरत ने शृङ्गार रस के दो अधिष्ठान बतलाये हैं --(१) सम्भोग तथा (२) विप्रलम्भ[1] । अधिष्ठान शब्द का कोष में स्थिति या स्थान अर्थ होता है, जैसे - 'इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते,[2] 'अस्मिंश्चाधिष्ठाने'[3] आदि । तो शृङ्गार रस के दो अधिष्ठान हैं यह कहने का तात्पर्य हुआ कि शृङ्गार रस दो स्थानों में रहता है --सम्भोग तथा विप्रलम्भ रति की दो विशिष्ट अवस्था मात्र ही है । अत: अधिष्ठान शब्द भी अवस्था का ही वाचक हुआ यही देखकर अभिनव ने अधिष्ठान का अर्थ अवस्था ही किया है अर्थात् शृङ्गार के दो भेद या प्रकार हुये ।

पुन: भरत ने विभाव के भेद से अथवा अभिनय की दृष्टि से रस में भी भेद बतलाया है और इस सिद्धान्त के अनुसार शृङ्गार भी, वाणी से, नेपथ्य से तथा क्रिया से निष्पादित होने के कारण १- वाचिक, २- नेपथ्य तथा ३- क्रियात्मक तीन प्रकार का होता है[4]। किन्तु इन भेदों का काव्य की कुछ चेतना या शृङ्गार के मनोविज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है स्वभावत: यह तीन भेद आगे चलकर लुप्त हो गये ।

ध्वनिकार से शृङ्गार के भरत सम्मत भेद

आनन्दवर्धन-रसादि की असंलक्ष्यक्रमता बताते हुये उसके संभावित भावादि की व्यङ्ग्यता की असंलक्ष्यता की ओर संकेत करते हुये कहा है कि 'असंलक्ष्यक्रम एक ही प्रकार का सामान्येन कहा गया है क्योंकि - असंलक्ष्यता इस भेदिष्णु

---

१ तस्यहि अधिष्ठाने सम्भोगो विप्रलम्भश्च ।

—ना० शा०

२ गीता - ३ ।४०

३ पंचांग

४ शुद्ध शृङ्गार त्रिविधं विवाङ्वाङ्नेपथ्य क्रियात्मकम् ।

— ना० शा० ६ ।७७

इसका ध्यान है उदाहरण के लिए श्रृङ्गार रस को लिया। 'काव्यात्मा श्रृङ्गार के प्रथमतः दो प्रकार हैं --(१) सम्भोग, २- विप्रलम्भ। सम्भोग के भी प्रेमियों की परस्पर प्रेमपूर्वक अवलोकन से प्रारम्भ कर सुरत (जिसके ६४ प्रकार के आलिङ्गनादि भेद कामसूत्रप्रकरण में देखे जा सकते) उद्यानादि विहार आदि अपरिमेय प्रकार हैं। विप्रलम्भ के भी अभिलाषा, ईर्ष्या, विरह और प्रवास आदि भेद हैं। उनमें प्रत्येक के अनेक प्रकार के विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी हैं। उन सबके सम्भोगादिकों के और उनके विभावादियों के) देशभेद, कालभेद, अवस्थाभेद, आश्रयभेद आदि के अनुसार एक (श्रृङ्गार) के ही अपरिमेय भेद होंगे फिर रसों के भेदोपभेद करने में तो अनन्त ही होंगे।[1]

<u>संयोग श्रृङ्गार</u>

नायक-नायिका के परस्पर अनुकूल दर्शन, स्पर्शन तथा आलिंगनादि व्यवहार को संयोग कहते हैं। बहिरिन्द्रिय संयोग ही संयोग के नाम से वर्ण्य है।[2] किन्तु श्रृङ्गार के अन्तर्गत इसका तभी ग्रहण होता है जब वह अन्योन्य तथा अनुकूल रूप में उपस्थित किया जाता है। बलात्कार के समान अनुचित संयोग का वर्णन इसका

---

१ तथा हि --श्रृङ्गारस्याङ्गिनस्तावदाद्यौ द्वौ भेदौ। सम्भोगो विप्रलम्भश्च। सम्भोगस्य च परस्परप्रेमदर्शन-सुरतविहरणादिलक्षणाः प्रकाराः। विप्रलम्भस्याप्यभिलाषेर्ष्याविरहप्रवासविप्रलम्भादयः। तेषां च प्रत्येकं विभावानुभावव्यभिचारिभेदः। तेषां च देशकालाद्याश्रयावस्थाभेद इति स्वगतभेदापेक्षयैकस्य तस्यापरिमेयत्वम्। किं पुनरङ्गप्रभेदकल्पनायाम्। ते ह्यङ्गप्रभेदाः प्रत्येकमङ्गिप्रभेदसम्बन्धपरिकल्पने क्रियमाणे सत्यानन्त्यमेवोपयान्ति।

--ध्वन्या० २।१२ की वृत्ति

२ तत्र दर्शनस्पर्शनसंलापादिभिरन्योन्यमनुकूलानां पुंसां परस्परं संयोगेनोत्पद्यमान आनन्दो वा संयोगः संयोगो बहिरिन्द्रियसम्बन्धः।

— र० गं० पृ० १२८

किसी एक की ओर से रति का अधिक अथवा न्यून प्रदर्शन संयोग शृङ्गार का उदाहरण न बनकर शृङ्गार रसाभास का प्रदर्शक बना रह जाता है[1]। एक दूसरे के प्रेम में पगे नायक-नायिका जहाँ परस्पर दर्शन स्पर्शन आदि करते हैं वहाँ सम्भोग शृङ्गार कहलाता है[2]।

वस्तुतः संयोग की अगणित अवस्थाओं के कारण इसके भेद भी अगणेय हैं इसलिये विश्वनाथ[3], मम्मट[4] आदि आचार्यों ने अगणित होने के कारण एक गिना है। उदाहरणार्थ --शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनैः,

निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थली
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥[5]

यह सम्भोग शृङ्गार का उदाहरण है, नायक इसका आलम्बन है, शून्य वास गृह उद्दीपन विभाव है, मुख, निर्वर्ण चुम्बनादि तथा लज्जा हास तथा उसके व्यङ्ग्य व्यभिचारी भाव हैं। रति स्थायी भाव है। इससे सामाजिक को रस की चर्वणा होती है।

---

१ यूनोः परस्परं परिपूर्णः प्रमोदः सम्यक्सम्पूर्णरतिभावो वा शृङ्गारः। यूनोरेकस्य प्रमोदस्य सौभाग्ये न्यूनतायां अतिरेके वा परिपूर्णताभावात् रसाभासत्वमिति। — र० सं० पृ० १२८

२ दर्शनस्पर्शनादीनि निषेवेते विलासिनौ।
यत्रानुरक्तावन्योन्यं संभोगोऽयमुदाहृतः॥ — सा० द० ३।२१०

३ संभोगस्य परस्परावलोकनालिङ्गनाऽऽश्लिष्ट चुम्बनाद्यनेक
व्यापारमयत्वेनानन्त्यादेक विवक्षणता कृता। — प्र० रु० पृ० १८४

४ तत्राद्यः परस्परावलोकनालिङ्गनाधरपानपरिचुम्बनाद्यनन्त-
भेदत्वादपरिच्छेद्य इत्येक एव गण्यते।

— का० प्र० पृ० १२१ च० उ०

५ का० प्र० से उद्धृत, पृ० १२२

विप्रलम्भ शृङ्गार

विवेचन काल में जब भी गंभीर प्रसंग आ जाता है, उसकी सुस्पष्टता के लिये हमारे आचार्य नाना उपायों का आलम्बन करते हैं । सम्बद्ध शब्द की निरुक्ति उनका सर्वप्रथम उपाय है । इसके द्वारा वह यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि किसी शब्द ने अपने में जो विशेष भावनायें समेटी हैं, उनका उस शब्द के धातु, उपसर्ग और प्रत्यय से कितना सम्बन्ध है तथा साहित्य-शास्त्रियों द्वारा प्रयुक्त शब्द सम्बद्ध भावराशि को व्यक्त करने के लिये कितना उपयुक्त है । दूसरा उपाय है प्रसंग से सम्बद्ध अवस्थाओं की ओर संकेत करना, उससे वर्ण्य विषय की सीमा निर्धारित करना तथा कुछ आवश्यक बहिरंग रेखाओं से उसके अन्तरङ्ग को स्पष्ट कर देना । तीसरा उपाय है सम्बद्ध प्रकरण का स्वरूप-लक्षण प्रस्तुत करते हुये, जहां तक सम्भव हो, तटस्थ लक्षण से दूर रहते हुये स्पष्ट परिभाषा प्रस्तुत कर देना । इसी तरह के इस अभियान से प्रसंग चाहे कितना गंभीर क्यों न हो ; स्फुट होते देर नहीं लगती । प्रसंग की स्पष्टता के लिये उपर्युक्त उपायों का अवलम्बन उपयुक्त होगा ।

विप्रलम्भ शृङ्गार की एक अवस्था है जो अभीष्ट नायक-नायिका की अप्राप्ति की स्थिति में उदित होती है, मधुर व्यथा का विस्तार करती है, अनन्य आन्तर भावों को उपजाती है तथा रति-प्रेम की आत्मा के दर्शन कराती है । 'आंख से ओझल दिल से दूर' वाली उक्ति यहां चरितार्थ नहीं होती । इस अवस्था में संयोग की अपेक्षा कहीं अधिक गाम्भीर्य और स्थिरता पाई जाती है । इस अवस्था का प्रेम संयोग के अनुभवों से पुष्ट होने के कारण अधिक तीव्र, अधिक हृदयस्पर्शी तथा मानव की सर्वाधिक भावमयी दशा का व्यंजक होता है । संयोग काल की क्रिया-क्रीड़ा यहां तिरोहित हो जाती है, उसका स्थान ले लेता है आत्मावलोकन । इस काल में प्रेम क्षीण नहीं होता, उत्तरोत्तर राशि-राशि रूप में बढ़ता चलता है, पक्का होता चलता है । महाकवि कालिदास ने मेघदूत में इसी स्थिति की ओर संकेत किया है ---

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्तेत्वभोगात् ।
इष्टे वस्तुन्युपचितरसा प्रेमराशीभवन्ति ॥

भोज ने विप्रलम्भ की जो निरुक्ति दी है वह बड़े महत्व की है।

निरुक्ति के द्वारा शब्द की मूल भावना को व्यक्त करने में बड़े प्रवीण हैं। उनकी निरुक्तियां शब्दों के मर्म को खोलकर रख देती हैं। विप्रलम्भ में 'वि' और 'प्र' उपसर्ग 'लभ' धातु प्रयुक्त है। 'प्र' उपसर्ग 'लभ' धातु के साथ वञ्चना अर्थ को द्योतित करता है[1]। यह वञ्चना चार प्रकार की होती है -- (१) प्रतिश्रुत्यादान, (२) विसंवादन, (३) कालहरण तथा प्रत्यादान[2]। यद्यपि शुद्ध 'लभ' का अर्थ प्राप्ति है किन्तु 'प्र' के साथ रहने पर उसका ठीक उल्टा अर्थ 'अप्राप्ति' या वञ्चना हो जाता है। इस प्रकार कभी-कभी 'प्र' विपरीत अर्थ देता है -- जैसे 'तिष्ठति' से 'प्रतिष्ठते' 'वसति' से 'प्रवसति' तथा 'स्मरति' से 'प्रस्मरति'।

इस प्रकार 'प्रलम्भ' में लगा हुआ 'वि' उपसर्ग भी चार प्रकार का अर्थ प्रकाशित करता हुआ 'प्रलम्भ' की उन विशेषताओं को प्रकट करता है वे अर्थ हैं-- १- विहित, २- निरुद्ध, ३- व्याविद्ध तथा ४- विप्रतिषिद्ध[3]।

इस प्रकार विप्रलम्भ के पूर्वानुराग मान, प्रवास, करुण इन चारों प्रकारों में 'प्र' और 'वि' के पूर्वोक्त चारों अर्थ क्रमशः अनुकूल दिखायी पड़ते हैं जैसे --

१- पूर्वानुराग विप्रलम्भ - प्रतिश्रुत्यादान एवं विहित रूप है
२- मान - विसंवादन एवं निरुद्ध
३- प्रवास - कालहरण एवं व्याविद्ध
४- करुण - प्रत्यादान एवं विप्रतिषिद्ध[4]

---

१ संयुक्त विप्रलम्भादीन् पृथिव्यो प्रलम्भते ।
इत्यादिलाभकाद्य लेभः प्रयुक्तो वञ्चने तथा ॥ -- स० कं० ५।५६

२ आदाय च प्रतिश्रुत्य विसंवादनमेव च ।
कालस्य हरणं चापि प्रत्यादानं च वञ्चनम् ॥ -- वही ५।५७

३ पूर्वानुरागपूर्वेण विप्रलम्भेन तत्पुनः ।
विशेषणोक्तिभेदेन चतुर्धा कुर्वते ॥ -- स० कं० ५।५८

४ विहितस्य निरुद्धस्य व्याविद्धस्य क्रमेण यः ।
विप्रतिषिद्धस्य पूर्वानुरागादिषु विचक्षते ॥
-- वही ५।५९

यद्यपि इनका सम्मिश्रण भी देखा जाता है अर्थात् किसी एक के विप्रलम्भ में अन्य के गुण मिलते हैं, तथापि प्राधान्य की दृष्टि से यह व्यवस्था की गई है ।

'प्र' उपसर्ग की चारों प्रकार की कल्पनाओं का क्रमशः पूर्वानुराग आदि चार अवस्थाओं में इस प्रकार विवेचन किया गया है --

पूर्वानुराग में 'प्रतिकूलत्यादान' रूप कल्पना होती है । कटाक्ष आदि के द्वारा सूचित करके भी लज्जा, भय आदि के कारण अभीष्ट आलिंगनादि का न देना[1]। मान में विलम्बन कल्पना रहती है जिसका लक्षण है -- आलिंगनादि का निषेध या किसी अप्रिय कार्य का स्मरण कर आलिंगनादि का उपेक्षापूर्वक न देना[2]। प्रवास में 'अपहरणरूप' रूप प्रकल्पना होती है जो इन आलिंगनादि अभीष्ट वस्तुओं का काल (समय कुछ कुछ समय के लिये) अपहरण रूप होता है । प्रिय के प्रवास से लौटने पर प्रेयसी प्रिय के साथ इन्हें पुनः प्राप्त करती है[3]। और करुण में प्रत्यादान रूप कल्पना होती है । प्रत्यादान का अर्थ ही होता है फिर से वापस ले लेना[4]।

इसी प्रकार 'वि' उपसर्ग की चारों विशेषताओं को पूर्वोक्त विप्रलम्भ की चारों अवस्थाओं की कल्पना में इस प्रकार प्रदर्शित किया है - पूर्वराग में लज्जा आदि के कारण कल्पना विविध होता है, मान, ईर्ष्या आदि के कारण विरुद्ध

---

१ प्रतिबन्धो हि पूर्वानुरागे कटाक्षादिभिः ।
अभीष्टालिङ्गनादीनामादानं ह्रीभयादिभिः ।। —उ० कं० ५।५५

२ माने निवारणं तेषां विलम्बन मुच्यते ।
अवधानात्प्रदानं वा व्यलीकस्मरणादिभिः ।।
— वही ५।६०

३ प्रवासे चापहरणं व्यवधानेषां प्रतीयते ।
प्रोष्यागतेष्वितेषामपि कान्ताः कान्तेषु युज्यते । — वही ५।६१

४ प्रत्यादानं पुनस्तेषां करुणे को न मन्यते ।
स्वयं ददाति हि पिपितानि समाकर्षेयाति ।।
— वही ५।६२

भी नायक नहीं आता है और युवती नायिका है जिसे चाहा जाता है उस कल्पना को साहित्यशास्त्र में विप्रलम्भ कहते हैं । विप्रलम्भ का यही मुख्य अर्थ है ।

उपर्युक्त निरुक्तियां इतने व्यापक सन्दर्भ में रखी गयी है कि विप्रलम्भ की मूलभावना उसके समस्त भेदोपभेदों के साथ स्पष्ट हो जाती है । विप्रलम्भ के बारे में इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है । निरुक्ति के गर्भ में समस्त भेदोपभेद अपनी सभी विशेषताओं के साथ सन्निविष्ट है ।

निरुक्तियों के अतिरिक्त विप्रलम्भ के मर्म को समझने के लिये कुछ परिभाषाओं का तुलनात्मक विवेचन अपेक्षित है । भोज ने विप्रलम्भ की परिभाषा इस प्रकार की है — 'जहां रति नामक भाव प्रकर्ष को प्राप्त कर ले पर अभीष्ट को न प्राप्त कर सके, वह विप्रलम्भ होता है ।'[1] भानुदत्त 'युवक और युवतियों की परस्पर मुदित पंचेन्द्रियों के पारस्परिक सम्बन्धाभाव अथवा अभीष्ट की अप्राप्ति को विप्रलम्भ कहते हैं[2] । विश्वनाथ ने भोज की परिभाषा अपनाई है । उनकी दृष्टि में जहां नायक-नायिका की रति तो प्रगाढ़ होती है किन्तु परस्पर मिलन नहीं हो पाता है वहां विप्रलम्भ होता है[3] । रूप गोस्वामी का कथन है —'नायक-नायिका के अयोग काल में और योग काल में भी अभीष्ट आलिंगनादि की अप्राप्ति के कारण प्रकर्ष को प्राप्त हुआ रतिभाव विप्रलम्भ होता है ।'[4] पंडितराजजगन्नाथ 'स्त्री-पुरुषों की

---

१ भावो यदा रतिर्नाम प्रकर्षमधिगच्छति ।
नाधिगच्छति चाभीष्टं विप्रलम्भस्तदोच्यते ॥ — स० कं० ५।४७

२ यूनोरन्योन्यं मुदितानां पंचेन्द्रियाणां सम्बन्धाभावोऽभीष्टाप्राप्तिर्वा विप्रलम्भः । — र० त० तरं ६, पृ० १२६

३ यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ । — सा० द० ३।१८७

४ यूनोरयुक्तयोर्भावो युक्तयोर्वाथ यो मिथः ।
अभीष्टालिंगनादीनामनवाप्तौ प्रकृष्यते ॥
स विप्रलम्भो विज्ञेयः सम्भोगोन्नतिकारकः

— उ० नी० म०, पृ० ५००

वियोग-कालावच्छिन्ना रति को विप्रलम्भ मानते हैं[1]। परिभाषायें और भी अत्यधिक हैं पर उनके उद्धरण की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। परिभाषाकारों के कथन-प्रकारों में भले ही अंतर हो, पर मूलभाव सबका एक जैसा ही है।

कुछ आचार्यों ने शृङ्गार के दो भेदों के स्थान पर तीन भेद स्वीकार किये हैं। धनंजय ने दशरूपक में शृङ्गार के अयोग, विप्रयोग और सम्भोग ये तीन भेद स्वीकार किए हैं[2]। शारदातनय ने भी उक्त तीन भेदों को स्वीकार किया है[3]। अयोग में नायक-नायिका का एक दूसरे के प्रति अनुराग रहता है, दोनों ही एकचित्त रहते हैं, परन्तु परतंत्रता या दैव आदि के कारण दोनों एक दूसरे से दूर रहते हैं और उनका संगम नहीं हो पाता है[4]। यह वस्तुतः विप्रलम्भ के एक भेद पूर्वराग की ही स्थिति है: उक्त भेदों को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी आचार्य सम्भोग के भेद के पक्ष में नहीं हैं। विप्रलम्भ को ही कुछ आचार्य ने अयोग और विप्रयोग रूप से विभक्त कर रखा है। अयोग में विप्रलम्भ की पूर्वराग-दशा समाविष्ट है। विप्रयोग में विप्रलम्भ की मान और प्रवास दशाओं को सम्मिलित करके दो भेद कर दिये हैं। करुण विप्रलम्भ को उपभेद के रूप में नहीं माना है। वे करुणविप्रलम्भ को प्रवास के अन्तर्भूत मानते हैं। इसमें इतना ही अन्तर पड़ा कि अयोग को विप्रलम्भ का उपभेद न मानकर स्वतंत्र भेद ही मान लिया गया है।

विभिन्न स्थितियों की दृष्टि से आचार्यों ने विप्रलम्भ के प्रकारों का विवेचन दो रूपों में किया है।

---

१ वियोगकालावच्छिन्नत्वे विरहः।

— र० गं० प्रथम आनन

२ अयोगो विप्रयोगश्च सम्भोगश्चेति स त्रिधा।

— द० रू० ४।५०

३ वियोगायोग सम्भोगैः शृंगारो त्रिविधो मतः। —भा० प्र०, पृ० ८६

४ तत्रायोगोऽनुरागेऽपि नवयोरेकचित्तयोः।
पारतन्त्र्येण दैवाद्वा विप्रकर्षादसंगमः॥

—द० रू० ४।५१

अग्निपुराण[1], मम्मट[2], रामचन्द्र गुणचन्द्र[3], भानुदत्त[4] तथा वाग्भट[5] प्रभृति आचार्यों ने विप्रलम्भ शृङ्गार पांच प्रकार का माना है :--

(१) अभिलाष विप्रलम्भ

(२) ईर्ष्या विप्रलम्भ

(३) विरह विप्रलम्भ

(४) प्रवास विप्रलम्भ

(५) मान विप्रलम्भ

आचार्य रुद्रट[6] एवं विश्वनाथ[7] ने विप्रलम्भ को चार प्रकार का माना है :--

(१) पूर्वराग (प्रथमानुराग)

(२) मान

(३) प्रवास

(४) करुण

---

१ स्वभूतारत्वं मधु: अभिलाषेर्ष्याविरहप्रवासविप्रलम्भात्मकः ।

-- अ० पु० पृ० ५५७ ...

२ अपरस्तु अभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पञ्चविधः ।

-- का० प्र० का० २९ पृ० ४४

३ मान-प्रवास-शापेर्ष्या-विरहैः पञ्चधाऽपरः ॥

-- ना० द० ३।११२

४ स च विप्रलम्भः पञ्चधा, देशान्तरगमनगुरुनिदेशाभिलाषमानेर्ष्याविरहशापार्थमिति । -- र० तं०-तं ६, पृ० १४०

५ से च प्रवासाभिलाषविरहेर्ष्याशापानां निमित्तभूतानामन्यतमैः प्रवर्तितः । -- र० सं० प्रथमान्त रसोक प्रकरण ।

६ अथ विप्रलम्भनामा शृङ्गारोऽयं चतुर्विधो भवति । प्रथमानुरागमानप्रवासकरुणात्मकत्वेन ॥ -- का० (रु०) १४।१

७ स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकश्चतुर्धा स्यात् ॥

--सा० द० ३।१८७

आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि --`जब नायक और नायिका को अभीप्सित रति की प्राप्ति नहीं होती है, तब विप्रलम्भ-भावना उत्पन्न होती है[1]। संयोग दशा सुख-दशा है, विप्रलम्भ-दशा दुःख दशा। दुःख दशा-सुख दशा से अधिक गंभीर होती है। क्योंकि सुख की स्थिति में मानव मन से अधिक निकट पहुंच कर कतिपय वस्तुओं में केन्द्रित हो जाता है, उसके सुख में सब दुःख युक्त संसार के प्रति संवेदन का भाव नहीं प्रतीत होता है। दुःख में नायक-नायिका संवेदनाकांक्षी होकर संवेदन-प्रिय बन जाते हैं।

शृङ्गार रस का महत्व विप्रलम्भ शृङ्गार के कारण है। विश्वनाथ ने स्पष्ट कहा है--बिना विप्रलम्भ शृङ्गार के संयोग शृङ्गार का सम्यक् आस्वादन नहीं हो सकता और विप्रलम्भ शृङ्गार के अभाव में संयोग शृङ्गार पुष्टि को नहीं प्राप्त कर सकता। जिस प्रकार पहले वस्त्र को कषायित करने अथवा किंचित रञ्जित करने से उसकी शोभा बढ़ती है, उसी प्रकार विप्रलम्भ शृङ्गार से पुष्ट होने पर संयोग शृङ्गार की शोभा बढ़ती है[2]।

आचार्यों ने विप्रलम्भ के प्रकारों की व्याख्या प्रमुखतः दो रूपों में की है - (१) अभिलाषाहेतुक, विरहहेतुक, ईर्ष्याहेतुक, प्रवासहेतुक तथा शापहेतुक और (२) पूर्वराग, मान, प्रवास तथा करुण, इनका वर्णन पूर्व पृष्ठों में कर चुके हैं। भोज तथा विश्वनाथ प्रभृति संस्कृत के कुछ आचार्यों ने वात्सल्य को दसवां रस स्वीकार किया है। साहित्यदर्पण में वात्सल्य रस के विभावानुभाव एवं संचारी भाव भी स्पष्ट किये गये हैं और संयोग वात्सल्य का उदाहरण भी दिया है[3]। पर उसमें विप्रलम्भ वात्सल्य का उल्लेख या उदाहरण नहीं है। वास्तव में संस्कृत में वात्सल्य का रसत्व नाममात्र के लिये है।

---

१ यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ अभीष्टं नायकं नायिका वा।
--सा० द० ३। पृ० १८७

२ न विना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमश्नुते।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते॥-- सा० द० ३।२१३ की वृत्ति

३ सा० द० तृतीय परिच्छेद, वात्सल्य रस निरूपण, पृ० १२३

साहित्य तथा काव्य में विप्रलम्भ-शृङ्गार के वर्णन की परंपरा उतनी ही प्राचीन है, जितनी साहित्य तथा काव्य के जन्म तथा विकास क्रम की परम्परा। विश्व-वाङ्मय के प्रथम ग्रन्थ ऋग्वेद में पुरूरवा तथा उर्वशी के प्रेम एवं आत्यन्त विप्रलम्भ वेदना का मार्म-चित्रण हुआ है। संस्कृत साहित्य का सर्वप्रथम उपलब्ध आत्यन्त-विप्रलम्भ-वर्णन हमारा आदि ग्रन्थ में ही है। उर्वशी से वियुक्त होने की स्थिति से पूर्व विरही पुरूरवा की आत्यन्त-वियोग-वेदना के जो मंत्रों में चित्र ऋषि ने खींचा था, मानों उसने विश्व-काव्य में विरह-वेदना की अभिव्यक्ति का प्रारम्भ ही किया था। संस्कृत साहित्य में पहले स्त्री का अनुराग वर्णित होता है तत्पश्चात् पुरुष का अनुराग चित्रित होता है।[1] पुरुषानुराग भी पहले हो सकता है परन्तु उक्त प्रकार से वर्णन अधिक युक्तियुक्त होता है[2]। आदि कवि वाल्मीकि की रामायण में राम के विरहोद्गार अधिक तीव्रानुभूति-व्यंजक हैं और कवि-कुल-गुरु कालिदास का विरही यक्ष और चिर-विरह-व्यथित अज तो संस्कृत काव्य के विप्रलम्भ शृङ्गार के अद्वितीय रत्न हैं। भवभूति के राम कर्तव्य पूर्ति-वश सीता को निर्वासित तो कर देते हैं, पर जब परिस्थितिवश उन्हें पुनः उन स्थानों में जाना पड़ता है, जहां वनवास काल में वे सीता के साथ रहे थे, तब उनका मानस फूट पड़ता है और स्मृति पुष्ट अनुराग के मार्मिक उद्गार स्वतः व्यक्त हो जाते हैं। कालान्तर में ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेम मूर्ति नायिका में वियोग-वेदना नायक से भी अधिक तीव्र गम्भीर तथा विशद होती थी। अब वियोग-वेदना का विशेष आधिक्य नायिका में चित्रित किया जाने लगा, नायक में वियोग-वेदना अपेक्षाकृत अल्प विस्तार में की जाने लगी।

जैसा कि हमने पहले कहा है संस्कृत-साहित्य का सर्वप्रथम उपलब्ध विप्रलम्भ वर्णन ऋग्वेद में है। ऋग्वेद में अपनी प्रिया उर्वशी से आत्यन्त-विरहाकुल राजा पुरूरवा विकल तथा करुणा-कलित स्वरों में कहता है — हे प्रिये उर्वशी, तुम्हारे साथ

---

१ आदौ वाच्य: स्त्रिया राग: पुंस: पश्चात्तदिंगितै: ।

— सा० द० ३। १९५

२ वही ३। १९५ की वृत्ति

प्रणय क्रीड़ाएं करने वाला, इन गुणों से सम्पन्न तुम्हारा यह पति कभी बड़ी शिथिल तथा दुर्बल होकर गिर पड़ेगा, अथवा अस्त-व्यस्त एवं नितान्त दयनीय दशा में किसी दूरादपि-दूर देश के लिए महाप्रस्थान कर देगा, और यदि कहीं जाने में असमर्थ रहा, तो इसी पृथ्वी पर शिथिल होकर शयन करेगा (निर्ऋतिवश - यहीं पड़ा रहेगा) या फिर विनाश के प्रतीक पापदेवता के सान्निध्य को भी उपलब्ध कर लेगा (प्राण त्याग देगा),और वन्य वृक उसे समाप्त कर देंगे[1]।—

सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्परावतं परमां गन्तवा उ ।
अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः ॥[2]

उक्त दुःखपूर्ण शब्दों के अनंतर प्रेम का वह ज्योतिर्मय स्वरूप इस विप्रलम्भ-वर्णन में प्रकट हुआ है, जिसमें प्रिय के रूप को सृष्टि व्याप्त देखा जाता है, प्रिया प्रकृति-प्रतीक समझी जाती है तथा अनुराग का विस्तार प्रकट किया जाता है । राजा पुरूरवा कहता है कि अपने तेज से अंतरिक्ष को ज्योतिर्मय करने वाली तथा जन-जीवन के रंजक जल अथवा रस का निर्माण करने वाली प्रकृतिरूपी प्रिया उर्वशी को वश में करूंगा । उसे अवश्य प्राप्त करूंगा । प्रिये, शोभन कर्मों को करने वाला आत्म-प्रदाता या पुत्र वाला पुरूरवा तुम्हारी प्राप्ति के लिये विकल हो रहा है ।

---

१ सायणाचार्य का मंत्रार्थ -- अत्र पुनः पुरूरवा उवाच —सुदेवः त्वया सह क्रीडः पतिरद्य प्रपतेत् । अद्य प्रपततु । अथवा अनावृत् अनावृत्तः सन् परमां परावतं दूरादपि दूरदेशं गन्तवै महाप्रस्थानगमनं कुर्यात् । अध अथवा यत्र क्वापि गन्तुमशक्तः निर्ऋतेः पृथिव्या उपस्थे शयीत शयनं कुर्यात् । यद्वा निर्ऋतिः पापदेवता तस्याः उपस्थे उत्संगे संनिधौ मृत्युनिमित्तमर्थः । अध अथवा एनं वृकाः आरण्याः श्वानः रभसासः वेगवन्तः अद्युः भक्षयन्तु ।
-- ऋग्वेद १०।८।९५।१४

२ ऋग्वेद (१० । ८ । ९५ । १४) ।

तथा विरहिणी अनुराग में उपर्युक्त तथा अन्य प्रकृति-तत्व दीपित प्रतीत होते हैं । 'विक्रमोर्वशीयम्' में जब उर्वशी कार्तिकेय के शाप से लता बन जाती है तब उसके विरह में राजा पुरूरवा लताओं, मृगों, पुष्पों, पक्षियों तथा वन के सुन्दर पशुओं से अपनी प्रिया के विषय में अत्यन्त विषाद-पूर्वक पूछते फिरते हैं । वाल्मीकि की विराट् दृष्टि ने प्रकृति तथा उससे सम्बद्ध सभी वस्तुओं को मानव जीवन में समाहित कर दिया है । विरह की दशा मानव की विराट् दशा है । उनका विप्रलम्भ-वर्णन भी पर्याप्त व्यापक अनुभूतियों पर आश्रित होकर चला है तथा प्राय: समग्र संस्कृत-साहित्य का विप्रलम्भ वर्णन उनसे किसी न किसी प्रकार प्रभावित हुआ है ।

कालिदास के पश्चात् संस्कृत कवियों का ध्यान आभ्यान्तर अनुभूतियों की अपेक्षा बाह्य वस्तुओं के चित्रण की ओर अधिक रहा । कालिदास के पश्चात् भी महाकवियों ने नल-दमयन्ती, शिव-पार्वती, राम और सीता तथा अन्य नायक-नायिकाओं के विप्रलम्भ वर्णन किये हैं पर उनमें शैली चमत्कार तथा उक्ति वैचित्र्य होते हुये भी अनुभूतिगत गम्भीरता प्राय: कम ही है । महाकवि भवभूति इसके अपवाद हैं ।

जैसा हम पहले कह चुके हैं विप्रलम्भ शृङ्गार के भेद दो रूपों में मिलते हैं । प्रथम अभिलाष विरह, ईर्ष्या, प्रवास, शापजन्य विरह, द्वितीय पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण विप्रलम्भ । इन दोनों में विशेष अन्तर नहीं है ।अभिलाष-मूलक विप्रलम्भ को ही आचार्य विश्वनाथ ने पूर्वराग कहा है ।

आचार्य विश्वनाथ ने पूर्वराग के नीली, कुसुम्भ, मंजिष्ठा तीन भेद करके अभिलाषमूलक विरह के विस्तार का निरूपण भी कर दिया है । मम्मट ने ऐसा नहीं किया । आचार्य विश्वनाथ ने मान के प्रणय तथा ईर्ष्या दो भेद करके मम्मट ने विरहमूलक तथा ईर्ष्यामूलक विप्रलम्भ को इसी में अन्तर्निहित कर दिया है । इसी प्रकार प्रवास के कार्य, शाप, संभ्रम तीन भेद करके इन्होंने मम्मट के शापमूलक विरह को प्रवास के अन्तर्गत समाहित करने का प्रयास किया है । आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट के पाँचों विप्रलम्भ भेदों को अपने पूर्वराग, मान, तथा प्रवास में सम्मिलित करते हुये करुण

विप्रलम्भ का उल्लेख भी किया है, जिसका मूल भरत के नाट्यशास्त्र में है[1]। करुण विप्रलम्भ को किसी अन्य भेद में डालना ठीक नहीं है । काव्य में ऐसे अनेक वर्णन जिन्हें करुण-विप्रलम्भ के अन्तर्गत ही रखना उचित प्रतीत होता है । यद्यपि विप्रलम्भ में करुण रस के स्पर्श का स्पष्ट विवेचन आचार्य भरत के द्वारा हो चुका था किन्तु रुद्रट प्रभृति अन्य आचार्य करुण-विप्रलम्भ पर कुछ प्रकाश भी डाल चुके थे, पर उसकी सम्यक् प्रतिष्ठा आचार्य विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में ही हुई है ।

<u>विप्रलम्भ शृङ्गार के सात्विक भाव तथा कामदशायें</u>

मनुष्य अपने कुत्सित भावों को छिपाने का प्रयास करने पर भी नहीं छिपा पाता । कुछ भाव ऐसे हैं जो प्रयत्नपूर्वक छिपाये जा सकते हैं पर प्रेम छिपाने पर भी नहीं छिपता है । प्रेमी के नेत्र स्पष्ट कहते रहते हैं कि वह प्रेमी है । किसी भी रस का आस्वाद कराने क के लिये कतिपय अनुकूल भावों का उपस्थित होना आवश्यक है उनके अनुपस्थित रहने पर रस की चर्वणा सम्भाव्य नहीं । रस का आस्वाद भी उसी क्षण तक है जब तक उसकी उपस्थिति है । अत्यधिक अपेक्षा होने के कारण उनका विवेचन भी आवश्यक है ।

स्थायीभाव रसानुभूति का प्रयोजक अन्तरङ्ग या आभ्यान्तर कारण है । इसी प्रकार अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव आन्तर रसानुभूति से उत्पन्न, उसकी बाह्याभिव्यक्ति के प्रयोजक शारीरिक तथा मानसिक व्यापार हैं । इनको रस का कारण कार्य एवं सहकारी कहा जाता है । साहित्यदर्पणकार ने अनुभाव का लक्षण इस प्रकार किया है — अपने-अपने आलम्बन या उद्दीपन कारणों से सीता राम आदि के भीतर उद्बुद्ध रति आदि रूप स्थायीभाव को बाह्यरूप में जो प्रकाशित

---

१ करुणस्तु शापक्लेशविनिपातेष्टजन-विभवनाश-वध-बन्ध समुत्थो निरपेक्षभावः ।
औत्सुक्य-चिन्ता- समुत्थः सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः । एवमन्यः करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भः ।

— ना० शा० ३०६, ३१०

कराता है वह रत्यादि का कार्यरूप काव्य और नाट्य में अनुभाव के नाम से कहा जाता है[1]।

भरतमुनि ने अनुभाव का लक्षण इस प्रकार किया है — जो वाचिक या आङ्गिक अभिनय के द्वारा रत्यादि स्थायीभाव के आन्तर अभिव्यक्ति रूप अर्थ का भावुकजन में अनुभव कराता है उसको 'अनुभाव' कहते हैं[2]।

सात्त्विक भाव की संख्या आचार्यों ने आठ मानी है — १- स्तम्भ, २- स्वेद, ३- रोमाञ्च, ४- स्वरभङ्ग, ५- वेपथु, ६- विवर्णता, ७-अश्रु आना और ८- मूर्छा (प्रलय) ये आठ सात्त्विकभाव कहलाते हैं[3]। सात्त्विक भावों की उत्पत्ति मन की एकाग्रता या सत्त्व से होती है[4]।

शृङ्गार रस में इन आठों सात्त्विकों का सहज प्रवेश होता रहता है। विप्रलम्भ शृङ्गार एक ऐसी अवस्था है जिसमें अतीत का संयोग सुख वर्तमान दुःख के साथ समाहित रहता है। सच्चे प्रेम के कारण उत्पन्न विरह केवल दुःख ही नहीं है, उसमें मिलन स्मृति तथा पुष्ट अनुराग का सुख भी मिला रहता है। इसी दृष्टि से उक्त आठों अनुभाव किसी न किसी रूप में विप्रलम्भ शृङ्गार के अन्तर्गत आ सकते हैं। उदाहरणार्थ —

<u>१- स्तम्भ</u> — (कारणवश अंगों की गति का रुकना) विरही युवक नायक की

---

१ उद्बुद्धं कारणं स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन् ।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ।। —सा०द० ३ । १३२

२ वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते ।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ।।
-- ना० शा० ७ ।५

३ स्तम्भः स्वेदो च रोमांचः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ।।
-- वही ६ ।२२

४ इह हि सत्त्वं नाम मनः प्रभवम् ।
-- ना० शा० ७।९३ वृत्ति

स्मृति में इस प्रकार लीन हो जाता है कि उसके प्रत्यङ्गों की गति रुक सी जाती है ।

२- स्वेद

(पसीने से तर हो जाना) - स्मृति में मिलन कल्पना करते समय शरीर स्वेद-पूर्ण हो उठता है । अथवा उत्ताप से भी स्वेद संचार होता रहता है ।

३- रोमाञ्च

(रोमटों का खड़ा होना) — स्वप्न में प्रिय-संस्पर्श पाकर रोमांच हो उठता है । एकाकीपन के कारण भय की स्थिति में भी रोमांच सम्भव है ।

४- स्वरभंग

(मुख से स्वाभाविक रीति से वचनों का न निकलना) स्मृति लीन दशा में किसी के पूछने पर शब्द मुख से नहीं निकल पाते ।

५- वेपथु या कम्प

(शरीर का थर-थर कांपना) शीत या ज्वर आदि (जो वियोग के कारण हो जाते हैं) में कम्प सहज सम्भव है ।

६- वैवर्ण्य

(चेहरे का रंग बिगड़ जाना, पीला पड़ जाना) विरह में चेहरे की कान्ति जाती रहती है ।

७- अश्रु

(रोना) विरह और अश्रु की मैत्री आत्मिक गंभीर होती है वह एक अविच्छिन्न सत्य है ।

८- प्रलय

(सुधबुध खो जाना) विरह व्यथा के अतिरेक में नायक या नायिका अपनी सुध-बुध खो बैठते हैं ।

कालिदास, कुमारदास, श्रीहर्ष, बिल्हण और कल्हण प्रभृति महाकवियों के विप्रलम्भ-वर्णन पढ़ लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सारे सात्त्विक भाव विप्रलम्भ शृङ्गार के अन्तर्गत आ सकते हैं। कालिदास का सारा विप्रलम्भ-शृङ्गार का साहित्य एकत्र रखकर अध्ययन करने पर उसमें उक्त सभी अनुभाव दृष्टिगोचर हो जाते हैं। कुछ कवियों ने तो एक ही छन्द में सभी सात्त्विकों को एकत्र रखने का प्रयत्न किया है जो स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता है।

कुछ भाव ऐसे होते हैं जो रस निष्पत्ति में स्थायी भाव की सामयिक सहायता पहुंचाकर अन्ततः उसी में संलुप्त हो जाते हैं। 'रसकलश' के रचयिता ने लिखा है[1] — "ये भाव उसी प्रकार उठकर समाप्त हो जाते हैं जैसे समुद्र की लहरें, जो समुद्र में ही उत्पन्न होती है और समुद्र में ही लुप्त हो जाती है, स्थायी या प्रधान भाव जितने काल तक रहता है, उतने काल तक अनेक प्रकार के उपभाव भी उसमें संचरण करते रहते हैं। मनुष्य के भाव एक दूसरे से गुथे रहते हैं; एक प्रधान भाव के साथ अनेक छोटे-छोटे भाव संचरण करते रहते हैं। इसलिये ऐसे भावों को संचारी भाव कहा जाता है। संचारी भावों को व्यभिचारी भाव भी कहते हैं। व्यभिचारी उसे कहते हैं जो किसी रस में पूर्णतापूर्वक स्थिर न रहे, परिस्थिति के अनुकूल अनेक प्रकार से संचरण करते रहते हैं अतः इन्हें व्यभिचारी भाव कहा जाना ठीक ही है।"

संचारी भावों की संख्या तैंतीस मानी गयी है[2]। आचार्यों ने

----

१ यथा वारिधौ सत्येव कल्लोला उद्भवन्ति
विलीयन्ते च तद्वदेव रत्यादौ स्थायिनि
सत्येवाविर्भावतिरोभावाभ्यामाभिमुख्येन चरन्तो
वर्तमाना निर्वेदादयो व्यभिचारिणो भावाः। —द० रू० ४।७ की वृत्ति

२ निर्वेद-ग्लानि-शङ्काख्यास्तथासूया मदः श्रमः।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च॥
सुप्तं विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः॥

— ना० शा० ६।१८ से २१

शृङ्गार की सीमा रेखा है । मृत्यु के पूर्व वियोग में प्रेमियों की कोई भी अवस्था हो वह विप्रलम्भ शृङ्गार के अन्तर्गत रहती है । उनमें से किसी एक की वास्तविक मृत्यु हो जाने पर विप्रलम्भ शृङ्गार की सीमा समाप्त हो जाती है और करुण रस की सीमा प्रारम्भ हो जाती है इसलिये मरण का वर्णन काव्य या नाटक में रसविच्छेद का भय होने से नहीं करना चाहिए । यदि ऐसा किया भी जाय तो इस प्रकार से वर्णन करना चाहिये कि उससे रस विच्छेद न होने पावे । इसके दो मार्ग हैं कि या तो मरण के बाद शीघ्र ही दोनों के पुनर्मिलन की स्थिति आ जावे । उसमें शोक स्थिर नहीं हो पाता है । इसलिये रस विच्छेद नहीं होता है ।

मानव जीवन के मूलभाव केवल दो हैं सुख और दुःख । प्रेम एक रेखा मात्र है, सुख दुःख दोनों का मिलन प्रायः अनिवार्य रूप से होता रहता है इसलिये प्रेम के एक प्रमुख तत्व को लेकर चलने वाले रस शृङ्गार को `सर्वभाव संकुल`[1] कहा गया है । सीता हरण के पश्चात् राम में जो व्यग्रता जागी है उसका मूल प्रेम है । परकीया के साथ अपने प्रियतम अथवा पर प्रिय के साथ अपनी प्रियतमा की प्रणयक्रीड़ा देखकर नायक और नायिका उग्र हो उठते हैं । सम्भोग दशा में रति जन्य तथा विप्रलम्भ दशा में उत्कण्ठा-जन्य आलस्य नितान्त स्वाभाविक वस्तु है । प्रिय या प्रिया के विरह में अनेक प्राणी मरते देखे जाते हैं । इसी स्थिति में मानसिक शृङ्गार भावना के कारण आचार्यों के कुछ भावों को शृङ्गार से बहिष्कृत किये जाने के आदेश का पूर्ण सम्मान करते हुये भी यह कहना उचित है कि अनुराग रस के प्रधान अङ्ग शृङ्गार में सभी संचारी भावों का समावेश हो सकता है । विरह दशा प्रत्यक्षतः दुःखात्मक होते हुये भी मिलन-स्मृति से पुष्ट होने के कारण परोक्षतः सुखात्मक भी रहती है । स्वप्न तथा स्मृति तल्लीनता की दशा में अथवा विरही युगल-प्रिय सम्पर्क सुख का अनुभव भी करता रहता है । इसीलिये विप्रलम्भ शृङ्गार के अन्तर्गत सभी संचारी आ सकते हैं । यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक स्थिति के विरह में सभी संचारी प्रवेश पा सकते हैं या पावें ।

---

१ `एवमेष सर्वभावसंकुलः शृङ्गारो भवति ।

— ना० शा० (अ० भा०) पृ० ३०६

हमारे कथन का तात्पर्य इतना है कि विप्रलम्भ शृङ्गार के विराट् भाव क्षेत्र में सभी संचारी प्रवेश पा सकते हैं और एक धुरी तक काव्य में प्रवेश पा चुके हैं ।

आचार्यों ने विप्रलम्भ शृङ्गार के निकट संचारियों के आधार पर विरही नायक-नायिका की दस काम दशाओं का उल्लेख किया है — अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, तथा मरण[1] । साहित्यदर्पण में काम-दशाओं के नाम कथन के बाद आचार्य विश्वनाथ ने उनकी संक्षिप्त व्याख्या भी की है -- 'इच्छा का नाम 'अभिलाष' है । प्राप्ति के उपायादि की सोच का नाम 'चिन्ता' है । जड़ चेतन का विवेक न रहना 'उन्माद' कहलाता है । चित्त के भटकने से उत्पन्न अटपटी बातों को 'प्रलाप' कहते हैं । दीर्घ श्वास, पाण्डुता, कृशता आदि 'व्याधि' होती है । अंगों तथा मन के चेष्टा शून्य होने का नाम 'जड़ता' है और मरण को मति कहते हैं[2] ।' प्रतापरुद्रीयम् में यह दशायें बारह कर दी गयी हैं । उसमें स्मरण के स्थान पर संकल्प को रखकर प्रलाप तथा संज्वर नामक दो अवस्थायें और बढ़ा दी हैं[3] ।

कविकुलगुरु महाकवि कालिदास ने कामदशाओं का बहुत ही हृदय-ग्राहक तथा सुन्दर वर्णन किया है । इस क्षेत्र में कालिदास का स्थान सर्वोपरि

---

१ अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसंप्रलापाश्च ।
उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः ॥
-- सा० द० ३। १९०

२ अभिलाषः स्पृहा, चिन्ता प्राप्त्युपायादिचिन्तनम् ।
उन्मादश्चापरिच्छेदश्चेतनाचेतनेष्वपि ॥
अलक्ष्यवाक्प्रलापः स्याच्चेतसो भ्रमणाद् भृशम् ।
व्याधिस्तु दीर्घनिःश्वासपाण्डुताकृशतादयः ॥
जडता हीनचेष्टत्वमङ्गानां मनसस्तथा ।
-- सा० द० ३।१९१,१९२,१९३

३ प्र० रु० य०, पृ० १९४

है । 'मेघदूत' विक्रमोर्वशीय, कुमारसंभव एवं रघुवंश के विप्रलम्भ वर्णनों में कामदशाओं के मनोहारी चित्र दृष्टिगोचर होते हैं । इस विषय पर डा० नगेन्द्र ने लिखा है -- 'संस्कृत के आचार्यों ने विरह की दस अवस्थाएं कामदशाएं कही हैं । आधुनिक आलोचक उनको देखकर चौंकते हैं- कहते हैं भावनाओं की सीमा बांधना । उपहास है । वास्तव में यह ठीक भी है परन्तु फिर भी विरह में अभिलाषा अर्थात् प्रिय से मिलने की उत्कण्ठा, चिन्ता अथवा प्रिय के इष्ट-अनिष्ट की चिन्ता ; स्मृति या अपने प्रेम-पात्र के सम्बंध में उपभुक्त सुखों का स्मरण, गुणकथन आदि सभी स्वभावतः होता है । इसमें तीव्रता के आ जाने से उद्वेग प्रलाप, उन्माद कभी-कभी जड़ता और मरण तक हो जाता है । ये भावनायें चिरन्तन और सर्वसाधारण हैं, देश काल के व्यवधान से परे हैं।[1]

-०-

---

१ साकेत एक अध्ययन, साकेत में विरह, पृ० ५३

द्वितीय परिच्छेद

-0-

विप्रलम्भ शृङ्गार का शास्त्रीय विवेचन

द्वितीय परिच्छेद
-0-

विप्रलम्भ शृङ्गार का शास्त्रीय विवेचन

विप्रलम्भ शृङ्गार - भेद निरूपण —

रुद्रट कृत विप्रलम्भ के भेद -

रुद्रट ने विप्रलम्भ शृङ्गार को चार प्रकार का माना है - प्रथमानुराग, मान, प्रवास और करुण[1]।

प्रथमानुराग

दर्शन आदि मात्र से अंकुरित हुये नवल प्रेम वाले नायक और नायिका की, संगम न होने के कारण जो चेष्टा होती है उसे प्रथम-विप्रलम्भ (पूर्वानुराग) कहते हैं[2]। उन्हीं कुछ चेष्टाओं का वर्णन करते हैं (कठिनाई से निवारणीय कामाग्नि वाले ये दोनों (नायक-नायिका) शीतल, जल, चन्द्रमा, चन्दन, मृणाल, कदली-पत्र आदि का सेवन करते हैं, निन्दा करते हैं और फेंकते हैं[3]। नायक-नायिका में दस कुल अवस्थायें होती हैं --आरम्भ में अभिलाषा, उसके बाद चिन्ता, उसके बाद स्मरण, उसके बाद गुणवर्णन, उसके बाद उदासीनता, उसके बाद प्रलाप (बकवाद) उसके बाद उन्माद, उसके बाद व्याधि, उसके बाद जड़ता तथा उसके बाद मरण इस प्रकार वियुक्त रागियों की दस दशायें होती हैं[4]।

---

१ अथ विप्रलम्भनामा शृङ्गारोऽयं चतुर्विधो भवति ।
प्रथमानुरागमानप्रवासकरुणात्मकत्वेन ॥ --का० (रु०)१४।१

२ आलोकनादिमात्रप्ररूढरागयोरसंप्राप्तौ ।
नायकयोर्या चेष्टा स प्रथमो विप्रलम्भ इति ॥ -- वही १४।२

३ शिशिरहिमचन्द्रचन्दनमृणालकदलीदलादि सर्वेऽपि ।
कुर्यातामरतया सेवेते निन्दतः क्षिपतः ॥-- वही १४।३

४ आदावभिलाषः स्याच्चिन्ता तदनन्तरं ततः स्मरणम् ।
तदनु च गुणसंकीर्तनमुद्वेगोऽथ प्रलापश्च ॥
उन्मादस्तदनु ततो व्याधिर्जडता ततस्ततो मरणम् ।
इत्थमसंयुक्तानां रक्तानां दश दशा ज्ञेयाः ॥
—वही १४।४-५

नायिकाप्राप्त्युपाय प्रयत्न

उस (नायिका की प्राप्ति) में कौन सा प्रयत्न होना इस प्रकार प्रयत्न का क्रम इस प्रकार है -- 'तदनन्तर उस नायिका में आसक्त नायक किसी दूसरे हेतु के व्याज से उस (नायिका) के सेवकों को साम, दान और मान से अपना विश्वस्त बनाता है[1]। विश्वासपात्र उन सेवकों के समक्ष देर तक अनुराग-पूर्वक नायिका की चर्चा करता हुआ स्वयं (नायिका के प्रति) अपने अनुराग को प्रकाशित करता है[2]। उसके अभाव में नायक और नायिका में विश्वस्त बात करने वाली सन्यासिन और मालिन को भी नायिका को अपनी ओर आसक्त करने हेतु कार्य में भलीभाँति नियुक्त करता है[3]। इस प्रकार अपने प्रयोजन को अवगत कराकर और नायिका की मनोभावना को जानकर उसको अपनी अवस्थाओं को सूचक लेख आदि उपायों से उत्कण्ठित करता है[4]। अपने पर आसक्त हुई उसे चिन्ता में देखकर कलाओं अथवा इन्द्रजाल के योग से प्रसङ्गों में अनेक बार क्रमशः आश्चर्य स्तम्भित करता है[5]।

---

१ अथ नायकोऽनुरक्तस्तस्यामर्जयति परिजनं तस्याः ।
उद्दिश्य हेतुमन्यं साम्ना दानेन मानेन ॥
-- का० (ह०) १४।६

२ तस्य पुरतोऽथ कुर्वन्नुचितालापमस्य नायिका विषयाम् ।
चिरमनुरागेण कथां स्वकमनुरागं प्रकाशयति ॥
-- वही १४।७

३ तदभावे प्रव्रजिता मालाकारादिकोऽपितो वापि ।
उभयप्रत्ययिताभिः कर्मणि सम्यङ् नियुङ्क्ते ॥
-- वही १४।८

४ तद्द्वारेण निवेदितनिजभावो विदितनायिकाभावः ।
स्वस्यति तामुपचारैः स्वावस्थासूचकैर्लेखैः ॥ -- वही १४।९

५ चिन्तां च तां विदित्वा दृष्ट्वा च कलाभिरिन्द्रजालैर्वा ।
योगैरद्भुतकर्मा विस्मापयति प्रसङ्गेषु ॥
-- वही १४।१०

जब वह कन्या इस क्रम से वश में न हो तब समस्त उपायों के क्षीण हो जाने पर वह (नायक) कन्या को (उसके) पिता आदि से प्राप्त करता है[1]। शास्त्र में जो कहा गया है कि दूसरों की स्त्री के साथ गमन नहीं करना चाहिए, रुद्रट कृत नमि साधु की टीका में उसी को समझाते हुए कहा गया है कि सब प्रकार से अपनी रक्षा करें, इस शास्त्र वचन के अनुसार नायक भी अपनी आत्मरक्षा के लिए परायी स्त्रियों में प्रवृत्त होता है[2]।

मान

किसी दूसरी नायिका के संसर्ग से उत्पन्न नायक में दोष को लक्ष्य कर ईर्ष्यायुक्त नायिका जिस विकार को प्राप्त करती है उसे मान कहते हैं[3]। परायी स्त्री के साथ गमन महादोष है, संलाप मध्यम और देखना स्वल्प (परायी स्त्री के साथ संलाप) मध्यम दोष (नायिका के) स्वयं देख लेने पर महान दोष होता है[4]। नायक के धारण किये वस्त्र आदि, उसके बाई एवं पास उसके अङ्कन,

---

१ यत्नेन यदा नैवं कथमपि लभेत नायिका नायात् ।
क्षीणसमस्तोपायः कन्यां स हरेदिति ख्यापयति ।।
— का० (रु०) १४।११

२ सर्वत स्वात्मानं गोपायेदिति कुशलवचनाच्च: ।
आत्मानं रक्षितुमन्यस्त्री नायकोऽप्येव ।।
— वही १४ ।१४

३ मानः स नायके यं विकारमायाति नायिका ईर्ष्या ।
उद्दिश्य नायिकान्तरसंभवजनुरूपं दोषम् ।।
— वही १४ ।१५

४ गमनं ज्यायान्दोषः प्रथितोऽपि मध्यमस्तथालापः ।
आलोकनं कनीयान्मध्यो ज्यायान्स्वयं दृष्टः ।।
— वही १४ ।१६

गोत्रस्खलन (किसी अन्य स्त्री नामादि ग्रहण) तथा सखी की बात दोष के परिचायक होते हैं[1]। फिर वह दोष ज्ञात होकर नायिका के क्रोध को उत्पन्न करते हैं[2]। यदि देश, काल और प्रसङ्ग बलवान (महत्वपूर्ण) होते हैं तब क्रोध असाध्य होता है। जब मध्यम श्रेणी के होते हैं तब कठिनाई से साध्य होता है। जब दुर्बल होते हैं तो सरलता से साध्य होता है[3]। इसमें कौन से देश आदि महत्वपूर्ण होते हैं उन्हें बताते हैं --जलते हुये उज्ज्वल दीपक वाला, पुष्पों से सुगंधित, एवं धूप से सुरभित वासवेश्म, प्रासादपृष्ठ और कुसुमित पुष्प वृक्षों वाली ज्योत्स्ना से युक्त उद्यान ये उत्तम देश हैं। चैत्र की रात और वसन्त ऋतु (ये उत्तम) काल हैं और उपरि वर्णित नायक-नायिका उत्तम, मध्यम और अधम पात्र हैं[4]। यहां नायिका सखी

---

१ शयनादि नामकथनं तदीयमाल्याङ्कितं च तस्याङ्गम् ।
दोषस्य तथा गमकं गोत्रस्खलनं सखीवचनम् ॥

-- का० (रु०) १४।१७

२ देशं कालं पात्रं प्रसङ्गमथवान्यदपि सविशिष्टम् ।
जनयति कोपमसाध्यं सुसाध्यं दुःसाध्यम् वा ॥

-- वही १४।१८

३ यदि ज्यायांसो देशकालपात्रप्रसङ्गास्तदाऽसाध्यस्तदा कोपः स्यात् । अथ मध्यास्तदा कृच्छ्रसाध्यः । अथ कनीयांसस्तदा सुखसाध्य इति पृ० ३६६ ।

४ ज्वलदुज्ज्वलप्रदीपं कुसुमोत्करधूपसुरभि वासगृहम् ।
सौधतलं च ज्योत्स्नाकुसुमं सुरभिकुसुमारामम् ॥
इति देशा ज्यायांसो मधुरजनि स्मर महोत्सवः कालः ।
पात्रं तु नायको वा ज्यायो मध्याधमानुक्तौ ॥

-- वही १४।१९-२०

में पूर्व-पूर्व के कोमल और उत्तरोत्तर कठिन उपाय है । जो कोमल कोमल उपाय से न सिद्ध हो वहां कठिन उपाय का प्रयोग करना चाहिये[1] ।

<u>प्रवास</u>

कार्य के अनुकूल अवस्था वाला नायक विदेश जायेगा, जा रहा है, जा चुका है, घर आयेगा, आ रहा है, और आ चुका है -- इस प्रकार जहां अवस्था होती है वहां प्रवास शृङ्गार होता है । (नायक के) कार्य के अनुकूल अवस्था न होने पर भी (प्रवास शृङ्गार) होता है[2]।

<u>करुणविप्रलम्भ</u>

जहां नायक नायिका में से एक मर जाता है अथवा दूसरा मृतकल्प हो जाता है और दूसरा उसके लिये विलाप करता है वहां करुण विप्रलम्भ शृङ्गार होता है[3]। नमि साधु ने करुण विप्रलम्भ को चार प्रकार का माना है- नायक मरता है या नायिका, नायक मृतकल्प होता है या नायिका[4]। (करुण के)

---

१ मृदुतर यथापूर्वं कठिनं यथोत्तरं तथा क्रमतः ।
साध्येत यो न मृदुना कठिनं तत्र प्रयोक्तव्यः ॥
-- का० (रु०) १४।३२

२ यास्यति याति गतो परदेशं नायक प्रवासो सौ ।
इच्छत्येत्यायातो यत्रावस्थोऽन्यथा च गृहात् ॥
-- वही १४।३३

३ करुणः स विप्रलम्भो यत्रान्यतरो म्रियेत नायकयोः ।
यदि वा मृतकल्पः स्यात्तत्रान्यस्तत्कृतं प्रलपेत् ॥
-- वही १४ ।३४

४ नायको म्रियेत नायिका वा, तथा नायको मृतकल्पो नायिका वा भवतीति चत्वारः प्रकाराः । टीका० नमि साधु - का० पृ० ४०३

धन जय एवं धनिक कृत विप्रलम्भ के भेद

धन जय ने शृङ्गार रस तीन प्रकार का माना है -- अयोग, विप्रयोग तथा संयोग ।[1]

विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग इसलिये नहीं किया गया है कि विप्रलम्भ सामान्यतः नायक एवं नायिका के संयोगाभाव को ही अभिहित करता है उसके दो विशेष प्रकार पाये जाते हैं — अयोग (जोकि नायक नायिका में पूर्वानुराग की अवस्था में पाया जाता है) तथा विप्रयोग । सच तो यह है कि विप्रलम्भ शृङ्गार एक विशेष प्रकार का अयोग तथा विप्रयोग ही है । विप्रलम्भ शब्द इतना सामान्य है कि कहीं उसका उपचार के द्वारा दूसरा अर्थ 'प्रवंचना रूप' अर्थ न ले लिया जाए, इसलिए भी अयोग तथा विप्रयोग को अलग-अलग बताया गया है । जैसा कि प्रसिद्ध है- विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग संकेत स्थल पर वादा करके नायक के न पहुंचने पर तथा नायिका के वहां पहुंचने पर नायक कृत प्रवंचना के लिये देखा जाता है । विप्रलम्भ का मुख्य प्रयोग यही है । इसीलिये ऐसी नायिका को विप्रलब्धा कहते हैं । अतः कहीं यह अर्थ न ले लिया जाए, इसलिये विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग बचाया गया है ।[2]

धनिक की वृत्ति से प्रतीत होता है कि धन जय ने 'विप्रलम्भ' शब्द का प्रयोग इसलिये नहीं किया है कि कहीं उस (विप्रलम्भ) का उपचरित, सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त शाब्दिक, व्युत्पत्तिपरक अर्थ वंचन = प्रवंचना = ठगी न मान लिया जाये । संकेत देकर भी संकेत स्थल पर न पहुंचना, दी गयी अवधि का

---

१ अयोगो विप्रयोगश्च सम्भोगश्चेति स त्रिधा ।

— द० रू० ४।५०

२ अयोगविप्रयोगविशेषत्वाद्विप्रलम्भस्यैतत्सामान्याभिधायित्वेन विप्रलम्भशब्द उपचरितवृत्तिर्मा भूदिति न प्रयुक्तः, तथा हि— दत्त्वा संकेतमप्राप्तेऽवध्यतिक्रमे नायिकान्तरानुसरणाच्च विप्रलम्भशब्दस्य मुख्यप्रयोगो वंचनार्थत्वात् ।

— वही ४।५० की वृत्ति

अतिक्रमण करना ; किसी अन्य नायिका का अनुसरण करना आदि अप्रीतिकर कार्यों से प्रधान नायिका को `संयोग मिलन` से `वंचित करना` - यह सामान्य प्रयुक्त-व्यवहार सिद्ध अर्थ का ग्रहण न कर लिया जावे । केवल इसीलिये `विप्रलम्भ` शब्द का प्रयोग नहीं किया गया । इसी अर्थ के आधार पर प्रिय संयोग से वंचिता नायिका विप्रलब्धा कही जाती है[१]।

अयोग शृङ्गार

अयोग शृङ्गार की स्थिति यह है, जहाँ दो नवयुवकों (नायक-नायिका) का एक दूसरे के प्रति परस्पर अनुराग होता है, उनका चित्त एक दूसरे के प्रति आकृष्ट रहता है, किन्तु परतन्त्रता (पिता, माता आदि के कारण) या दैव के कारण, वे एक दूसरे से दूर रहते हैं, उनका समागम नहीं हो पाता । अयोग शृङ्गार की स्थिति में दोनों में एक दूसरे के प्रति पूर्वानुराग की स्थिति होती है, पर उनका मिलन किन्हीं कारणों से नहीं हो पाता[२]।

योग का अर्थ नायक-नायिका का परस्पर समागम । इस समागम के अभाव को ही अयोग कहते हैं । यह अयोग तो पिता आदि के अधीन होने के कारण, परतन्त्र होने के कारण होता है, पितादि की अनुमति न होने से यह समागम नहीं हो पाता । मालतीमाधव की मालती पिता के अधीन है, तथा उसके पिता की माधव के कुल से शत्रुता है, अतः वहाँ भी पारतन्त्र्य के कारण प्रारम्भ में अयोग बना ही रहती है । दैव के कारण नायक-नायिका के अयोग का उदाहरण शिव तथा पार्वती के अयोग का उदाहरण शिव तथा पार्वती के अयोग को ले सकते हैं, जहाँ शिव के प्रतिकार

---

१ हि० र० का शा० वि० — पृ० ६०

२ तत्रायोगोऽनुरागेऽपि नवयोरेकचित्तयोः:
पारतन्त्र्येण दैवाद्वा विप्रकर्षादसङ्गमः ।

-- वही ४।५०, ५१

कर लेने के कारण दैववश दोनों का समागम नहीं हो पाता, जैसा कि कुमारसम्भव के पञ्चम सर्ग तक उपनिबद्ध हुआ है[1]।

इस अयोग शृङ्गार की दस अवस्थाएं होती हैं --अभिलाष, चिन्तन, स्मृति, गुणकथा, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, संज्वर, जड़ता तथा मरण[2]। इसके प्रत्येक उत्तर अवस्था पहले से अधिक तीव्र होती है। अभिलाषा वह अवस्था है जबकि सर्वाङ्गसुन्दर नायक के प्रति नायिका की स्वाभाविक इच्छा उत्पन्न होती है। यह इच्छा उसको साक्षात् देखने पर या उसके चित्र को देखने पर, अथवा उसके विषय में सुनने पर होती है। इस दशा में आश्चर्य, आनन्द, सम्भ्रम आदि भावों की प्रतीति होती है[3]। नायक या नायिका का दर्शन साक्षात् रूप से, चित्र के द्वारा, स्वप्न के द्वारा या इन्द्रजाल आदि माया के द्वारा हो सकता है। अथवा वह सखियों आदि के गीत या मागध आदि के गुणस्तवन के सुनने के बहाने से भी हो सकता है[4]।

---

१ योगोऽन्योन्यस्वीकारस्तदभावस्त्वयोगः --पारतन्त्र्येण विप्रकर्षाद्वि-
धिभावात्त्वात् सागरिकामालत्योर्वत्सराज माधवाभ्यामिव दैवाद्गौरी-
शिवयोरिवासमागमो योगः ।

-- वही ४।५० की वृत्ति

२ दशावस्थः स तत्रादावभिलाषोऽथ चिन्तनम् ॥
स्मृतिर्गुणकथोद्वेगप्रलापोन्मादसंज्वराः ।
जडता मरणं चेति दुरवस्थं यथोत्तरम् ॥

-- वही ४।५१, ५२

३ अभिलाषः स्पृहा तत्र कान्ते सर्वाङ्गसुन्दरे ।
दृष्टे श्रुते वा तत्रापि विस्मयानन्दसाध्वसाः ॥

-- वही ४।५३

४ साक्षात्प्रतिकृतिस्वप्नच्छायामायासु दर्शनम् ।
श्रुतिर्व्याजात्सखीगीतमागधादिगुणस्तुतेः ॥

-- वही ४।५४

अभिलाष का उदाहरण, जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल में शकुन्तला को देखने पर दुष्यन्त को उसके प्रति इच्छा हो जाती है :-- यह सुन्दरी तापसकन्या नि:सन्देह क्षत्रिय के द्वारा परिणयन के योग्य है, क्योंकि मेरा पवित्र मन इसके प्रति अभिलाष युक्त हो रहा है । सन्देह के स्थलों में उत्कृष्ट तथा पवित्र चरित्र वाले व्यक्तियों की अन्त:करण-वृत्तियां ही प्रमाण होती है । मुझे अब तक इसके विषय में यह सन्देह था कि यह ब्राह्मणकन्या है या क्षत्रियकन्या है । यदि यह ब्राह्मणकन्या होती, तो क्षत्रिय इससे विवाह नहीं कर सकता, पर मेरा मन इसके प्रति अभिलाष युक्त हो रहा है । मेरा मन अत्यधिक पवित्र है, अत: मेरा मन इस बात का प्रमाण है कि यह क्षत्रिय के द्वारा विवाह करने योग्य अवश्य है[1]।

विस्मय (आश्चर्य) का उदाहरण, जैसे —उस कोमल अङ्गों वाली सुन्दरी के स्तनों को देखकर (वह) युवक सिर को कंपाने लगता है, मानो उसके स्तनों के बीच में फंसी हुयी अपनी दृष्टि को जबरदस्ती बाहर निकाल रहा हो । उस नायिका के स्तनों का विस्तार भार तथा उसके द्वारा अनुमित काठिन्य की कल्पना कर तथा उसके आलिंगनयोग्यत्व को जानकर युवक अत्यधिक आश्चर्यचकित हो जाता है, वह आश्चर्य से सिर हिलाने लगता है[2]।

आनन्द, जैसे राजशेखर की विद्धशालभञ्जिका नाटिका में नायक-नायिका को देखकर आनन्दित हो जाता है । इसकी व्यञ्जना नायक की उक्ति से स्पष्ट है[3]। का वरन, जैसे शिव को सामने देखकर कुमारसम्भव में वर्णित पार्वती की

---

१ असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मन: ।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्त:करणप्रवृत्तय: ।।
—द० रू० से उद्धृत, पृ० २७०

२ स्तनावालोक्य तन्वङ्ग्या शिर: कम्पयते युवा ।
तयोरन्तरनिर्मग्नां दृष्टिमुत्पाटयन्निव ।।
—वही पृ० २७०

३ [illegible] क्वचित्तां
चिर ज्योत्स्नामच्छा [illegible] ।
उपकारात् प्रविष्ट [illegible] --
गगनाकाशे कोऽयं गलितहरिण: शीतकिरण: ।।
-- वही

यथा — 'शिव को अपने सामने देखकर सरस अङ्गों वाली हिमालय की पुत्री पार्वती काँपने लग गई । उस स्थान से चले जाने के लिये उठाए हुये एक पैर को धारण करती हुई पार्वती इतनी सम्भ्रान्त हो गई कि वह मार्ग में पर्वत के द्वारा रोक दिए जाने के कारण चंचल तथा व्याकुल नदी के समान न तो वहाँ से जा ही सकी न वहाँ ठहर ही सकी ।'[1]

आचार्यों ने इन्हीं दस अवस्थाओं का निदर्शन किया है । वैसे इन अवस्थाओं के अनेक प्रकार देखे जा सकते हैं और उनका दर्शन महाकवियों के प्रबन्धों में मिल सकता है[2] । यथा प्रिय दर्शन या श्रवण से वर्णित अभिलाषा से औत्सुक्य पैदा नहीं होता, प्रिय के न मिलने पर निर्वेद तथा उसके विषय में अत्यधिक चिन्तन से ग्लानि उत्पन्न नहीं होती क्या ? इस तरह अभिलाष दशा में औत्सुक्य, निर्वेद तथा ग्लानि की अवस्था भी पाई जाती है[3] ।

विप्रयोग शृङ्गार

विप्रयोग या वियोग शृङ्गार में नायक तथा नायिका का समागम नहीं होता । यह समागमाभाव एकबार समागम हो लेने के बाद की दशा का है । यह वियोग मधुर अधिक (कटु) हो सकता है, या सच्चे प्रेम का ही एक बहाना

---

१ तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि—

निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती ।

मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः,

शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ।

—द० रू० से उद्धृत पृ० २७१

२ दशावस्थत्वमाचार्यैः प्रायोवृत्त्या निदर्शितम् ।।

महाकविप्रबन्धेषु दृश्यते तदनन्तता ।

— वही ४।५५,५६

३ दृष्टे श्रुतेऽभिलाषाच्च किं नौत्सुक्यं प्रजायते ।।

अप्राप्तौ किं न निर्वेदो ग्लानिः किं नातिचिन्तनात् ।

— ४।५६, ५७

हो सकता है । इसके अनुसार यह दो तरह का हो जाता है प्रवास रूप वियोग जो कह होता है, जबकि नायक विदेश में होता है तथा मानरूप वियोग, जब प्रियकृत अपराध के कारण नायिका मान किये बैठी रहती है । मानपरक वियोग या तो प्रेम के कारण होता है या ईर्ष्या के कारण[1] ।

मिले हुये नायक-नायिका का अलग हो जाना विप्रयोग (वियोग) कहलाता है । इसमें दो भेद हैं — मान तथा प्रवास । मान भी दो तरह का होता है —प्रणयमान तथा ईर्ष्यामान[2] ।

<u>प्रणयमान -</u>

नायक-नायिका में से एक के या दोनों के कोपयुक्त होने पर, क्रुद्ध रहने पर प्रणयमान वाला विप्रयोग होता है[3]।

प्रेमपूर्वक दूसरे को वश में करना प्रणय कहलाता है । उस प्रणय को भङ्ग करने वाला मान प्रणयमान कहलाता है । यह नायक तथा नायिका में पाया जाता है[4]।

नायक के प्रणयमान का उदाहरण -- जैसे रामचरित के इस पद में राम का मान- वनदेवी वासन्ती राम को पुरानी बातें याद दिला रही है ।

----

१ विप्रयोगस्तु विश्लेषो रूढविस्रम्भयोर्द्विधा ।।
मानप्रवासभेदेन, मानोऽपि प्रणयेर्ष्ययोः ।

४।५७,५८

२ प्राप्तयोरप्राप्तयोर्विप्रयोगस्तस्य द्वौ भेदौ मानः प्रवासश्च ।
मानविप्रयोगोऽपि द्विविधः -- प्रणयमान ईर्ष्यामानश्चेति ।

४।५७ की वृत्ति

३ तत्र प्रणयमानः स्यात्कोपावसितयोर्द्वयोः ।।

४।५८

४ प्रेमपूर्वको वशीकारः प्रणयः तद्भङ्गो मानः प्रणयमानः
स च द्वयोर्नायकयोर्भवति ।

- ४।५८ की वृत्ति

ठीक इसी लताकुंज में तुम सीता के मार्ग को देखते हुये, उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे । उधर गोदावरी के तीर पर गई हुई सीता नदी की रेती पर हंसों से खेलने लग गयी थी और इसलिये देर हो गयी थी । जब वह लौटकर आई तो उसने तुम्हें इस तरह देखा, जैसे तुम क्रुद्ध हो । इसलिये तुम्हें प्रसन्न करने के लिये उस सीता ने कातरता के साथ कमल की कली के समान हाथों की अंजलि बांधकर तुम्हें भोले ढंग से प्रणाम किया था[1] ।

नायिका का प्रणयमान जैसे वाक्पतिराजदेव के इस पद्य में —
तीनों लोकों के पूज्य महादेव ने जब देवी पार्वती को प्रणयमान के कारण क्रुद्ध देखा, तो वे सम्भ्रम तथा आश्चर्य से युक्त होकर, डर के मारे सिर झुका कर एकदम प्रणाम करने लगे ; जिससे पार्वती प्रसन्न हो जावे । पर महादेव के सिर नीचा कर लेने पर पार्वती ने गङ्गा (पार्वती की सौत) को देख लिया । तब तो वह और अधिक क्रुद्ध हो गई तथा उसने अपना चरण महादेव के सिर पर गिराया । इससे महादेव बड़े लज्जित हुये । तीनो आंखो वाले महादेव का यह लज्जित होना आप लोगों की रक्षा करे[2]।

नायक तथा नायिका दोनों का प्रणयमान, जैसे इस गाथा में—
बताओ तो सखी ; प्रणयमान किये बैठे, झूठे ही सोये हुये, दोनों मानी प्रिय तथा प्रिया में किसके बिना हिलते-डुलते अपने सांस रोक रखे हैं तथा कानों को एक दूसरे

---

१ अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः
सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद् गोदावरीसैकते ।
आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः ॥
— वही पृ० २०२

२ प्रणयकुपितां दृष्ट्वा देवीं ससम्भ्रमविस्मित —
स्त्रिभुवनगुरुर्भीत्या सद्यः प्रणामपरो भवत् ।
नमितशिरसो गङ्गालोके तया चरणाहता -
ववतु भवतस्त्र्यक्षस्यैतद्विलक्षमवस्थितम् ॥
— पृ० २०३

के निःश्वास को सुनने के लिये, यह जानने के लिये वह सोया है या नहीं, पड़े कर रहे हैं -- कौन अधिक (मल्ल) जोरदार है । नायक तथा नायिका दोनों एक-सा मान किये बैठे हैं तथा झूठमूठ सो रहे हैं । इस तरह का मान करने में जोरदार कौन है यह निर्णय करना कठिन है, दोनों ही मान करने में प्रबल हैं[1]।

ईर्ष्यामान

प्रिय के किसी दूसरी नायिका में आसक्त होने पर स्त्रियों में जो क्रोध होता है, वह ईर्ष्याकृत मान होता है । यह नायक की अन्यासक्ति या तो स्वयं आँखों से देखी हो अथवा वह अनुमान कर ले (नायक के शरीर पर महावर, अन्योन्यादि चिह्न आदि देखकर इसका अनुमान कर ले) अथवा किसी के मुख से सुन ले । इस सम्बन्ध में प्रिय की अन्यासक्ति की श्रुति सखी के मुंह से हो सकती है[2]।

प्रिय की अन्यासक्ति का अनुमान तीन तरह से हो सकता है या तो नायक स्वप्न में उस अन्य नायिका का नाम ले ले, या फिर नायिका उसके शरीर पर अन्य स्त्री-भोग के चिह्न देख ले या नायक बड़ी ज्येष्ठा को पुकारते समय उस कनिष्ठा का नाम ले ले (गोत्रस्खलित कर बैठे) । उसका अन्य नायिका से प्रेम दृष्टरूप में तब होगा कि जब नायिका स्वयं अपनी आँखों से देखे या कानों से उन्हें प्रेमालाप करते हुये सुन ले[3]।

----

१ प्रणयकुपितयोर्द्वयोरप्यलीकप्रसुप्तयोर्मानिनोः ।
निश्चलनिरुद्धनिश्वासदत्तकर्णयोः कोमल्लः ॥

--

२ स्त्रीणामीर्ष्याकृतो मानः कोपोऽन्यासङ्गिनि प्रिये ।
श्रुते वाऽनुमिते दृष्टे, श्रुतिस्तत्र सखीमुखात् ।
४।५९

३ उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनकल्पितः ।
त्रिधाऽऽनुमानिको दृष्टः साक्षादिन्द्रियगोचरः ॥
४।६०

ईर्ष्यामान केवल स्त्रियों में ही पाया जाता है (नायकों में नहीं) नायक को किसी दूसरी नायिका को प्रेम करते देखकर, सुनकर या अनुमान करके यह ईर्ष्यामान होता है । इसमें सुनना सखी के मुख से होता है,क्योंकि सखी विश्वस्त होती है,इसलिये झूठ नहीं कह सकती[1] ।

सुन से लेकर दृष्ट अन्यासक्ति तक प्रत्येक परवर्ती प्रमाण से सिद्ध नायक की अन्यासक्ति पूर्ववर्ती से अधिक कठिन होती है । नायिका के इस ईर्ष्यामान को छः तरह से हटाया जा सकता है– साम, भेद, दान, नति (प्रणाम) उपेक्षा या रसान्तर (अन्य रस के द्वारा) । मधुर प्रिय वचनों का प्रयोग साम नामक उपाय है । उसकी सखी का सहारा लेना भेद है, तथा गहने आदि के बहाने कुछ दे देना दान है । पैरों पर गिरना नति कहलाता है । यदि सामादि चार उपाय काम न करें तो नायिका के प्रति उदासीनता बरतना, उपेक्षा कहलाते हैं । क्रीड़ा में उत्पन्न भय तथा हर्ष आदि के द्वारा कोप को नष्ट कर देना रसान्तर कहलाता है[2]। धनिक ने प्रत्येक के पृथक-पृथक उदाहरण दिये हैं ।

---

१ ईर्ष्यामानः पुनः स्त्रीणामेव नायिकान्तरसङ्गिनि स्वकान्ते उपलब्धे सत्यन्यासङ्गः श्रुतो वाऽनुमितो वा (यदि) स्यात् । श्रवणं सखीवचनात् तस्या विश्वास्यत्वाच्च ।

– ४।६० की वृत्ति

२ यथोत्तरं गुरुः षड्भिरुपायैस्तमुपाचरेत् ।
साम्ना भेदेन दानेन नत्युपेक्षारसान्तरैः ।।
तत्र प्रियवचः साम, भेदस्तत्सख्युपार्जनम् ।
दानं व्याजेन भूषादेः, पादयोः पतनं नतिः ।।
सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षावधीरणम् ।
रभसत्रासहर्षादेः कोपभ्रंशो रसान्तरम् ।।

– वही ४,६१,६२,६३

प्रवास विप्रयोग

किसी काम से, किसी गड़बड़ी से, या शाप के कारण नायक-नायिका का अलग-अलग रहना, उनका भिन्न-भिन्न देश में स्थित होना, प्रवास विप्रयोग है। इसमें नायक तथा नायिका दोनों में ही अश्रु, निःश्वास, दुर्बलता, बालों का न सँवारे जाने के कारण लम्बा होना, आदि अनुभाव पाये जाते हैं। यह प्रवास विप्रयोग तीन तरह का होता है — भावी (भविष्यत्), भवन् (वर्तमान) तथा भूत, क्योंकि प्रवास होने वाला हो, हो रहा हो, या हो चुका हो[1]।

इनमें पहले ढंग के नायक का प्रवास किसी कारण से होता है, जैसे अनुयात्रा में गया हो अथवा कहीं नौकरी आदि के लिये विदेश गया हो। यह प्रवास बुद्धि के अनुसार तीन तरह का होता है -- भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान रूप[2]। इन्हीं के उदाहरणों को क्रमशः बताते हैं --पहला उदाहरण भाव्यत्प्रवास का है, क्योंकि प्रिय विदेश गया नहीं है, किन्तु जाने वाला है— `प्रिय के भावी विरह की आशङ्का से भावी पथिक की पत्नी पड़ोस के लोगों से पति के चले जाने पर जीवन को धारण करने के रहस्य के बारे में पूछती हुई घर-घर घूम रही है[3]।`

---

१ कार्यतः सम्भ्रमाच्छापात्प्रवासो भिन्नदेशता ॥
द्वयोस्तत्राश्रुनिःश्वासकार्श्यलम्बालकादिता ।
स च भावी भवन् भूतस्त्रिधाद्यो बुद्धिपूर्वकः ।
— ४।६४,५

२ आद्यः कार्यजः अनुयानसेवादिकार्यसम्भूतो
बुद्धिपूर्वकत्वाद्भूतभविष्यद्वर्तमानतया त्रिविधः ।
— ४।६५ की वृत्ति

३ भविष्यत्पथिकस्य जाया आयुः प्राणधारणरहस्यम् ।
पृच्छन्ती भ्रमति गृहाद् गृहेषु प्रियविरहशङ्किता ॥
— पृ० २७६

तथा गच्छत्पतिका में प्रवास विप्रयोग का अभाव ही है, क्योंकि संयोग हो चुका है, या हो रहा है। गच्छत्पतिका का समावेश गतप्रवास में हो ही जाता है, अतः प्रवास के तीन भेद मानना ही ठीक जान पड़ता है[१]।

सम्भ्रमजनित प्रवास वह है, जहां दैवी या मानुषी विप्लव के कारण नायक-नायिका एकदम एक दूसरे से वियुक्त कर दिये गये हों[२]।

उत्पात बिजली गिरना, तूफान आना आदि की गड़बड़ी से या किसी दूसरे राजा के आक्रमण से, बुद्धिपूर्वक ; नियोजित प्रवास सम्भ्रमजनित प्रवास कहलाता है जैसे विक्रमोर्वशीयम् में पुरूरवा और उर्वशी का वियोग, अथवा जैसे मालती के 'कपालकुण्डला' के द्वारा हर लिये जाने पर मालती तथा माधव का वियोग[३]।

शापज प्रवास

नायक तथा नायिका के समीप होने पर भी जहां उनका स्वरूप, उनका स्वभाव या रूप-शाप के कारण बदल दिया जाए, वह शापज प्रवास कहलाता है। जैसे कादम्बरी में शाप के कारण वैशम्पायन (पुण्डरीक) तथा महाश्वेता का वियोग[४]।

---

१ आगच्छदागतयोस्तु प्रवासाभावादन्यत्प्रवासस्य च
गतप्रवासाऽविशेषात्त्रैविध्येन युक्तम् ।
पृ० २८०

२ द्वितीयः सहसोत्पन्नो दिव्यमानुषविप्लवात् ।
४। ६६

३ उत्पातनिर्घातवातादिजन्यविप्लवात् परचक्रादिजन्य विप्लवाद्वा
बुद्धिपूर्वकत्वादिकल्प एवं संभ्रमजः प्रवासः यथोर्वशीपुरूरवसोर्विक्रमोर्वश्यां यथा च
कपालकुण्डलापहृतायां मालत्यां मालतीमाधवयोः ।

४ स्वरूपान्यत्वकरणाच्छापजः सन्निधावपि ॥
यथा कादम्बर्यां वैशम्पायनस्येति ।
४।६६

समझाया गया है । मान का अर्थ जब ज्ञात होता है तो वह अभिमान रूप होता है जिसमें दु:ख वेदना भी मुख्य मानी जाती है और अभिलाष भावना का भी उचित ही अर्थ है क्योंकि इसी से प्रेम की गहराई की भी माप हो जाती है । मान शब्द ल्युडन्त होकर भी जो पुल्लिंग में प्रयुक्त होता है,उसके लिए भोज ने महाभाष्यकार का उक्ति को प्रमाण माना है उन्होंने इसी प्रकार की चर्चा करके अनुमान शब्द को पुल्लिंग में प्रयुक्त बताया है[1]।

प्रवास विप्रलम्भ (निरुक्ति)

प्रवास शब्द की निरुक्ति भोज ने 'वस', 'निवास' तथा 'वस' 'आच्छादन' की धातुओं से किया है । पहली धातु से बनाते समय प्र उपसर्ग 'विरुद्ध' होता है, अत: प्रवास का अर्थ होगा 'दूर जाना'[2] । फिर इसी धातु को णिजन्त करके 'वासयति' का अर्थ किसी के मन से सुवासित होने वाला अर्थ लेकर इस प्रकार निर्वचन किया है --

'प्रकर्षेण वासयति अनुरंजयति तन्मयतां नयति कामिन: चित्तमिति वा प्रवास: । क्योंकि ऐसे विरह में परस्पर की तन्मयता बढ़ जाती है[3]।

---

१ महाभाष्यकृत: कोऽप्यनुमान इति स्मृते: ।
ल्युडन्तो ऽपि च पुल्लिङ्गो मानशब्द: प्रयुज्यते ।।
--स० कं० ५।७०

२ यथाङ्गना भुजङ्गस्य वसते न वसन्ति च ।
स प्रवास: प्रकर्षेण प्रतीपार्थेन कथ्यते ।।
-- वही ५। ७१

३ चित्तोत्कण्ठाविनिर्भेदो भृशं वासयतीत्यत: ।
प्रवासयति वा भूय: स प्रवासो निरुच्यते ।।
— वही ५ । ७२

वियोग शृङ्गार

फिर प्रथमतः संयोग सुख में लीन युवक-युवतियों का अलग हो जाना वियोग कहलाता है । वो दो प्रकार का होता है --(१) मानकृत तथा (२) प्रवासकृत[1] । मान भी दो प्रकार का होता है — १- प्रणयमान तथा २- ईर्ष्यामान । जब दोनों परस्पर कोप से रूठ जाते हैं तो वह प्रणयमान कहलाता है और जब प्रिय किसी अन्य नायिका का संग करता है तो पूर्व स्त्री को ईर्ष्यामान होता है[2] ।

अन्यासङ्ग भी अनुमान द्वारा प्रत्यक्ष तथा सुनने से जाना जाता है । अनुमान भी तीन प्रकार से लगता है -- १-गोत्रस्खलन, २- भोगचिह्न देखकर तथा (३) स्वप्न में बड़बड़ाने से । प्रत्यक्ष तो साक्षात् स्वयं अपनी आँखों से देखकर होता है और सुनना दासी, सखी आदि के मुख से होता है[3] ।

मानोपनोदन उपाय -

मान को दूर करने के लिए ये छः उपाय गिनाये गये हैं -- १-साम, २- दान, ३- भेद, ४- नति, ५- उपेक्षा तथा ६- रसान्तर ।

---

१ वियोगो विप्रकर्षः स्याद्यूनो सम्भोगमग्नयोः ।
वियोगोऽपि द्विधा मानप्रवासभेदतः ॥
४।८५

२ तत्र प्रणयमानः स्यात्कोपावसितयोर्द्वयोः ।
स्त्रीणामीर्ष्याकृतो मानः कार्योऽन्यासङ्गिनि प्रिये ॥
-- वही ४।८६

३ सोऽपि त्रिधाऽनुमानप्रत्यक्षश्रवणसम्भवी ।
गोत्रस्खलनभोगाङ्कोत्स्वप्नायितविभावितः ॥
त्रिधाऽनुमानिकोऽध्यक्षः साक्षादिन्द्रियगोचरः ।
दासीसख्यादिवचनैः श्रुतिः श्रवणमुच्यते ॥
— वही ४। ८६

प्रवास

भिन्न देश में रहना प्रवास कहलाता है ।[1] शापज, बुद्धिपूर्वक, तथा घबराहट के कारण यह प्रवास तीन प्रकार का माना गया है ।

बुद्धिपूर्वक तीनों कालों के अनुसार भावी, भवन् और भूत तीन प्रकार का होता है । शापज वह है जिसमें स्वरूप आदि भी बदल जाते हैं तथा सम्भ्रम या घबराहट के कारण वह प्रवास है जो दैवी एवं मानुषी उत्पातों के कारण होता है ।[2]

करुण विप्रलम्भ

करुण विप्रलम्भ के विषय में अपना मत देते हुये शारदातनय कहते हैं कि- कुछ आचार्यों ने वियोग को एक प्रकार मरण भी माना है किन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि (नायक-नायिका में) एक के मरने पर दूसरा रोता है यह तो शोक ही हुआ ।[3] (वहां रति कहां ?) हां यदि मरण में प्रत्युज्जीवन की आकांक्षा बनी रहे तो वह वियोग के दुःखों के समान ही दुःखों वाला माना जाता है ।[4] (अतः वियोग में ही उसकी गणना हो सकती है) ।

---

१ प्रवासो भिन्नदेशत्वं तच्छापाद्बुद्धिपूर्वतः ।
सम्भ्रमादपि त्रेधा बुद्धिपूर्वस्त्रिधात्मकः ॥

४।८६

२ तत्र त्रेधा बुद्धिपूर्वस्त्रिविधा मतः ।
भावी भवन् भूत इति कालत्रितयसङ्गतेः ।
स्वरूपान्यथाभावकरणं शाप ईरितः ॥
सम्भ्रमः सहोत्पन्नो दिव्यमानुषविप्लवः ।

४।८६

३ वियोगभेदो मरणमिति केचिन्न युक्तमेतत् ॥
मृते त्वन्यतमस्यान्यः प्रलापः शोक एव सः ।

४।८६

४ मरणं यदि तावत्तत् प्रत्युज्जीवनकाङ्क्षया ।
तदन्वयी वियोगोत्थदुःखाकारात्मकम् ॥ -- ४।८७

विश्वनाथ

विश्वनाथ ने विप्रलम्भ को चार प्रकार का माना है— १-पूर्वराग, २- मान, ३-प्रवास और ४ करुण[१]। सौन्दर्यादि गुणों के श्रवण अथवा दर्शन से अनुरक्त नायक और नायिका की समागम से पहली दशा का नाम `पूर्वराग` है[२]। दूत; भाट अथवा सखी के द्वारा गुणों का श्रवण होता है और दर्शन इन्द्रजाल में, चित्र में; स्वप्न में अथवा साक्षात् भी होता है[३]।

अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मृति (मरण) ये दस कामदशायें विप्रलम्भ शृङ्गार (वियोग) में होती हैं[४]। इनके विशेष उदाहरण कहते हैं -- इच्छा का नाम `अभिलाष` है। प्राप्ति के उपायादि के सोच का नाम `चिन्ता` है। जड़, चेतन का विवेक न रहना `उन्माद` कहलाता है। चित्त के बहकने से उत्पन्न अटपटी बातों को `प्रलाप` कहते हैं। दीर्घ श्वास, पाण्डुता, दुर्बलता आदि व्याधि होती है। अङ्गों तथा मन के चेष्टाशून्य

---

१ स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकश्चतुर्धा स्यात् ॥
—सा० द० ३।१८७

२ श्रवणाद्दर्शनाद्वापि मिथः संरूढरागयोः ।
दशाविशेषो योऽप्राप्तौ पूर्वरागः स उच्यते ॥
— वही ३।१८८

३ श्रवणं तु भवेत्तत्र दूतवन्दिसखीमुखात् ।
इन्द्रजाले च चित्रे च साक्षात्स्वप्ने च दर्शनम् ॥
— वही ३।१८९

४ अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसंप्रलापाश्च ।
उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः ॥
— वही ३।१९०

होने का नाम 'जड़ता' है और मरण को 'मृति' कहते हैं[1]।

यद्यपि रस का विच्छेदक होने के कारण मरण का वर्णन नहीं करना चाहिये, क्योंकि मरणतुल्य दशा का वर्णन कर देना चाहिए, यदि शीघ्र ही पुनर्जीवित होना हो तो मरण का भी वर्णन कर देते हैं[2]।

कोई आचार्य इन दश कामदशाओं का वर्णन इस प्रकार करते हैं --सबसे पहले नयनानुराग, फिर चित्त की आसक्ति, अनन्तर संकल्प (मिलने की इच्छा), उसके बाद निद्रानाश कृशता, विषयवैराग्य, निर्लज्जता, उन्माद, मूर्च्छा और मरण[3]। पहले स्त्री का अनुराग वर्णन करना चाहिए, अनन्तर उसके इङ्गित चेष्टित देखकर पुरुष का अनुराग निबद्ध करना चाहिए[4]। जैसे --रत्नावली नाटिका में सागरिका और वत्सराज का अनुराग। यद्यपि पुरुषानुराग भी पहले हो सकता है, परन्तु उक्त प्रकार से वर्णन अधिक हृदयङ्गम होता है।

----

१ अभिलाषः स्पृहा, चिन्ता प्राप्त्युपायादिचिन्तनम् ।
उन्मादश्चापरिच्छेदश्चेतनाचेतनेष्वपि ॥
अलक्ष्यवाक्प्रलापः स्याच्चेतसो भ्रमणाद् भृशम् ।
व्याधिस्तु दीर्घनिःश्वासपाण्डुताकृशतादयः ॥
जडता हीनचेष्टत्वमङ्गानां मनसस्तथा ।

-- सा० द० ३।१९१-२

२ रसविच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते
जातप्रायं तु तद्वाच्यं चेतसाकाङ्क्षितं तथा ।
वर्ण्यतेऽपि यदि प्रत्युज्जीवनं स्याददूरतः ॥

-- वही ३।१९३-४

३ केचित्तु -- नयनप्रीतिः प्रथमं चित्तासङ्गस्ततोऽथ संकल्पः ।
निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः
उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव स्युः ॥ इत्याहुः ।

-- पृ० १०६

४ 'आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः पुंसः पश्चात्तदिङ्गितैः' । यथा रत्नावल्यां सागरिका-वत्सराजयोः । आदौ पुरुषानुरागे संभवत्यप्येवमधिकं हृद्यतमं भवति ।
-- वही

पूर्वराग तीन प्रकार का होता है -- १- नीलीराग, २- कुसुम्भ राग, ३-मञ्जिष्ठाराग।[१]

नीलीराग --

जो बाहरी चमकदमक तो अधिक न दिखावे परन्तु हृदय से कभी दूर न हो वह 'नीलीराग' कहाता है। जैसे- भगवान् श्रीरामचन्द्र और सीता देवी का।[२]

कुसुम्भ राग --

कुसुम्भ राग वह प्रेम होता है जो शोभित बहुत हो, पर जाता रहे।[३]

मञ्जिष्ठा राग --

उस राग को कहते हैं जो जाय भी नहीं और शोभित भी खूब हो।[४]

मान --

कोप का नाम मान[५] है। वह दो प्रकार का होता है। एक प्रणय से उत्पन्न दूसरा ईर्ष्या से उत्पन्न। प्रेम की उल्टी ही चाल हुआ करती है;

---

१ नीली कुसुम्भं मञ्जिष्ठा पूर्वरागोऽपि च त्रिधा ॥

--सा० द० ३।१९५

२ न चातिशोभते यन्नापैति प्रेम मनोगतम् ।
तन्नीलीरागमाख्यातं यथा श्रीरामसीतयोः ॥

-- वही ३। १९६

३ कुसुम्भरागं तत्प्राहुर्यदपैति च शोभते ।

-- वही ३। १९७

४ मञ्जिष्ठारागमाहुस्तद् यन्नापैत्यतिशोभते ॥

-- वही ३। १९७

५ मानः कोपः स तु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भवः ।
द्वयोः प्रणयमानः स्यात्प्रमोदे सुमहत्यपि ॥ -- वही ३ ।१९८

इसलिये दोनों के हृदय भरपूर प्रेम होने पर भी, बिना कारण ही, जो एक दूसरे के ऊपर कोप है, उसे प्रणयमान कहते हैं।[1]

यदि वह मान, अनुनय (खुशामद या मनाने) के समय तक न ठहर सके तो इसे विप्रलम्भ शृङ्गार नहीं होता वह सम्भोग संचारी भाव होता है।[2]

ईर्ष्यामान --

पति की अन्य अङ्गना में आसक्ति के देखने पर या अनुमान कर लेने पर अथवा किसी से सुन लेने पर स्त्रियों को ईर्ष्यामान होता है। उसमें अनुमान तीन तरह से होता है -- (१) स्वप्न में अन्य नायिका के सम्बन्ध की बातें बड़बड़ाने से या (२) नायक में उसके सम्भोग चिह्न को देखने से अथवा ३- अचानक नायक के मुंह से अन्य नायिका का नाम निकल जाने से।[3]

साम, भेद, दान, नति, उपेक्षा इन छः उपायों को मानभङ्ग करने के लिए पति यथाक्रम ग्रहण करे।[4] प्रिय वचन का नाम साम है। नायिका की सखी

---

१ प्रेम्णः कुटिलगामित्वात्कोपो यः कारणं विना ।

२।१९८

२ अनुनयपर्यन्तासहत्वे तस्य न विप्रलम्भभेदता, किंतु संभोगसंचार्याख्यभावत्वम् ।

पृ० ११०

३ पत्युरन्यप्रियासङ्गे दृष्टेऽथानुमिते श्रुते ।।
ईर्ष्यामानो भवेत्स्त्रीणां तत्र त्वनुमितिस्त्रिधा ।
उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनसंभवा ।।

२।१९९-२००

४ साम भेदोऽथ दानं च नत्युपेक्षे रसान्तरम् ।
तद्भङ्गाय पतिः कुर्यात्षडुपायानिति क्रमात् ।।

२।२०१

को तोड़ देने (अपनी ओर मिला लेना) को भेद कहते हैं । किसी बहाने से आभूषण आदि देना 'दान' है । पैरों पर गिरना 'नति' कहलाता है । सामादिक चार उपायों के निष्फल होने पर उपाय छोड़कर बैठे रहने को उपेक्षा कहते हैं । घबराहट, भय, हर्ष आदि के कारण कोप दूर हो जाने का नाम 'रसान्तर' है ।[1]

प्रवास

कार्यवश, शापवश, अथवा सम्भ्रमवश नायक के अन्य देश में चले जाने को 'प्रवास' कहते हैं । उसमें नायिकाओं के शरीर और वस्त्रों में मलिनता, सिर में एक वेणी (विशेष रीति से भूषा के साथ न गूंथकर साधारणतया सब बालों को लपेट कर एक चोटी बना लेना) एवं निःश्वास, उच्छ्वास, रोदन और भूमिपतन आदि होते हैं ।[2]

अङ्गों में असौष्ठव, सन्ताप, पाण्डुता, दुर्बलता, अरुचि, अधीरता, अस्थिरता, तन्मयता, उन्माद, मूर्च्छा और मरण ये दस (ग्यारह) कामदशायें प्रवास में नायक-नायिकाओं की होती हैं ।[3] प्रत्यङ्गों में मलिनता का नाम 'असौष्ठव' है,

---

१ तत्र प्रियजनः साम ; भेदस्तत्स्वजनोपार्जनम् ।
दानं व्याजेन भूषादेः ; पादयोः पतनं नतिः ॥
सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षावधीरणम् ।
रभसत्रासहर्षादेः कोपभ्रंशो रसान्तरम् ॥
– ३।२०२-३

२ प्रवासो भिन्नदेशित्वं कार्याच्छापाच्च संभ्रमात् ।
तत्राङ्गचेलमालिन्यमेकवेणीधरं शिरः ॥
निःश्वासोच्छ्वासरुदितभूमिपातादि जायते ।
– वही ३।२०४-५

३ अङ्गेष्वसौष्ठवं तापः पाण्डुता कृशताऽरुचिः ॥
अधृतिः स्यादनालम्बस्तन्मयोन्मादमूर्च्छनाः ।
मृतिश्चेति क्रमाज्ज्ञेया दश स्मरदशा इह ॥
– वही ३।२०५-६

विरह ज्वर को 'संताप' कहते हैं। सब वस्तुओं से वैराग्य हो जाने को 'अरुचि' कहते हैं। कहीं जी न लगने का नाम 'अधृति' है। मन की शून्यता 'अनालम्बनता' कहलाती है और भीतर बाहर सब ओर प्रियतम (या प्रियतमा) ही दीख पड़ने को तन्मयता कहते हैं[1]।

उसमें से कार्यवश उत्पन्न हुआ प्रवास, भविष्यत, वर्तमान और भूत इन तीन भेदों में विभक्त होता है[2]।

करुण विप्रलम्भ

नायक और नायिका में से एक के मर जाने पर दूसरा जो दुःखी होता है उस अवस्था को 'करुण-विप्रलम्भ' कहते हैं। परन्तु यह तभी होता है जब परलोकगत व्यक्ति के इसी जन्म में इसी देह से मिलने की आशा हो तब यह तो करुण रस ही होता है[3]।

यहां पुण्डरीक के मरणानन्तर आकाशवाणी के द्वारा उनके मिलन की आशा होने पर रति के अंकुरित होने से शृङ्गाररस होता है। आकाशवाणी से पहले करुणरस ही है, क्योंकि तब वह शोक प्रधान है, रति नहीं यह बात प्रामाणिक

---

१ असौष्ठवं मलापत्तिस्तापस्तु विरहज्वरः।
अरुचिर्वस्तुवैराग्यं सर्वत्रारागिता धृतिः॥
अनालम्बनता चापि शून्यता मनसः स्मृता।
तन्मयं तत्प्रकाशो हि बाह्याभ्यन्तरतस्तथा॥
- ३।२०७

२ भावी भवन्भूत इति त्रिधा स्यात्तत्र कार्यजः॥
- वही ३।२०८

३ यूनोरेकतरस्मिन्गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत्करुणविप्रलम्भाख्यः॥
यथा कादम्बर्यां पुण्डरीकमहाश्वेतावृत्तान्ते।
पुनरलभ्ये शरीरान्तरेण वा लभ्ये तु करुणाख्य एव रसः।
- वही ३।२०९

ठीक मानते हैं[1]।

यह जो कोई कहते हैं कि समागम की आशा के अनन्तर यहाँ भी शृङ्गाररस का `प्रवास` नामक भेद है, यह और ठीक नहीं मानते, क्योंकि यहाँ मरणरूप विशेषावस्था हो जाती है अतः यह प्रवास से भिन्न है[2]।

भानुदत्त -

भानुदत्त ने भी नवीनता प्रदर्शन का कुछ प्रयत्न किया है। उनके द्वारा विप्रलम्भ के पांच भेद वे ही हैं जो मम्मट ने लिखे हैं, बस विरह के स्थान पर `गुरुनिदेश` का उल्लेख कर दिया है। देशान्तरगमन के कारण (प्रवासजन्य) गुरुनिदेश के कारण (विरह), अभिलाषा के कारण (पूर्वराग) ईर्ष्या के कारण (मान) और शाप के कारण । इसके अतिरिक्त कारण वैचित्र्यमात्र से भिन्न भेद हो सकते हैं और भी बहुत भेद हो सकते हैं। लेकिन तीन और उपभेदों का उल्लेख किया है — १- समय हेतुक, २- दैव हेतुक तथा ३- विद्रावादि (उपद्रवादि) हेतुक किन्तु इनका उल्लेख प्रसंगतः ही हुआ है नियमतः नहीं[3]।

---

१ किंचाकाशसरस्वतीभाषानन्तरमेव शृङ्गारः
संगमप्रत्याशया रतिरुद्भवात्। प्रथमं तु करुण एव
इत्यभियुक्ता मन्यन्ते।

-- वही

२ यत्तत्र संगमप्रत्याशानन्तरमपि भवतो विप्रलम्भ-शृङ्गारस्य प्रवासाख्यो
भेद एव इति केचिदाहुः ; तदन्ये `मरणरूपविशेषसंभवात्तद्भिन्नमेव`
इति मन्यन्ते।

-- वही

३ स च विप्रलम्भः पञ्चधा, देशान्तरगमनाद्गुरुनिदेशादभिलाषादीर्ष्यायाः
शापाच्चेति। समयादैवाद्विद्रावादित्यादयोऽप्युन्नेयाः।

-- र० तं -तं ६, पृ० १४०

द्वितीय विप्रलम्भ शृङ्गार का उदाहरण देते हैं -- प्राणेश परदेश जा रहे हैं इसलिये यात्रा का समय उपस्थित है । प्रेमी लोग तात्कालिक मांगलिक स्तुति वाक्यों का अनल्प भाषा में उच्चारण कर रहे हैं । वियोग की अग्नि से गरम हुये श्वासों से जिसका अधरोष्ठ म्लान हो गया है और ऊपर से गिरे हुये आंसुओं से जिसका वक्ष:स्थल आर्द्र हो गया है । ऐसी चंचल नेत्रों वाली बाला केली-मन्दिर में मुख को रखकर शिव-शिव प्राणेश को देख रही है ।[1]

यहां नायक आलम्बन है, नि:श्वास एवं अश्रुपातादि अनुभाव और विषाद, चिन्ता तथा आवेगादि व्यभिचारी भावों के संयोग से अभिव्यज्यमान वियोग कालिक व रति विप्रलम्भ रस के व्यपदेश का हेतु है ।

दूसरा उदाहरण देते हैं --'जब से निखिल नयनों को आकर्षण करने में वशीकरण विद्या को जानने वाली और मधुर रस को प्रवाहित करने वाली नन्द सुनु कृष्ण की कोई कान्ति आविर्भूत हुई तब से कुलांगनाओं के मुख में श्वास लम्बे-लम्बे चलने लगे हैं । कपोल पाली पीली पड़ गयी है और चित्त की वृत्ति शून्य अर्थात् उद्देश्यहीन हो गयी है ।'[2]

और उदाहरण देते हैं -- जो कदाचित नयनों के आंचर परांगियों का अवमर्श अर्थात् स्पर्श भी नहीं सहन करती थी वह आज यात्रा में प्रस्थित दयित के आलिंगन को सहन करके चुपचाप खड़ी है ।[3]

पूर्व पद्य की तरह इस पद्य में सहज चंचलता की निवृत्ति अनुभाव है और लज्जा व्यभिचारिभाव है ।

---

१ वाचो माङ्गलिकी: प्रयाणसमये जल्पत्यनल्पं जने
केलीमन्दिरमारुतायनमुखे विन्यस्तवक्त्राम्बुजा ।
नि:श्वासग्लपिताधरोपरिपतद्बाष्पार्द्रवक्षोरुहा
बाला लोलविलोचना शिव शिव प्राणेशमालोकते ।।--रसगं० पृ० १७१

२ आविर्भूता यदवधि मधुस्यन्दिनी नन्दसूनो:
कान्ति: काचिन्निखिलनयनाकर्षणे कार्मणज्ञा ।
श्वासो दीर्घस्तदवधि मुखे पाण्डिमा गण्डयुग्मे
शून्या वृत्ति: कुलमृगदृशां चेतसि प्रादुरासीत् ।। -- वही पृ० १७२

३ नयना- ञ्चलावमर्शं या न कदाचित्पुरा सेहे ।
आलिङ्गितापि जोषं तस्थौ सा गन्तुकेन दयितेन: ।। -- वही पृ० १७३

मानचित्र

शृङ्गार
सम्भोग
विप्रलम्भ
पूर्वराग
मान
प्रवास
विरह ?
करुण
(मम्मट द्वारा उल्लिखित)
नीली
कुसुम्भ
मंजिष्ठा
ईर्ष्यामान
प्रणयमान
कार्यज
सम्भ्रमज
शापज
भूत
वर्तमान
भविष्यत

विप्रलम्भ तथा संयोग विवेचन

भोज ने `शृङ्गार प्रकाश के तेइसवें ` प्रकाश का नाम `विप्रलम्भ-सम्भोग प्रकाशन रखा है । इसमें उन्होंने रति शृङ्गार के दो प्रधान पक्षों के मुख्य भेदों का संक्षेप में विवेचन प्रारम्भ किया है । विप्रलम्भ के १- प्रथमानुराग, २- मान, ३- प्रवास और ४- करुण ये चार प्रकार बताये गये हैं । सरस्वती कंठाभरण में भी यह विषय प्रायः इसी प्रकार विवेचित किया गया है[1]। फिर सम्भोग को भी विप्रलम्भ के पूर्वोक्त चारों में प्रत्येक के अनन्तर से एक- करके चार प्रकार का बताया गया है । सम्भोग का भी इसी प्रकार सरस्वती कण्ठाभरण में विवेचन किया गया है[2]।

अपने इस विप्रलम्भ के पश्चात् सम्भोग का विवेचन करने वाला एकान्ततः मौलिक सिद्धान्त का समर्थन भी भोज ने इस प्रकार किया है कि बिना वियोग-कष्ट की भूमिका को प्रेमियों के संयोग नहीं करते बनते क्योंकि जब तक दोनों की तड़पन

---

१ भावो यदा रतिर्नाम प्रकर्षमधिगच्छति ।
नाधिगच्छति चाभीष्टं प्रकर्षमधिगच्छति ॥
पूर्वानुरागो मानश्च प्रवासः करुणश्च सः ।
पुरःसरश्रीप्रकाण्डेषु चतुः काण्डः प्रकाश्यते ॥
स० कं० -- वही ५।४५,४६

२ रतिविस्रब्धसंप्राप्तौ पुष्टः सम्भोग उच्यते ।
सोऽपि पूर्वानुरागादिरागानन्तर्यचतुर्विधः ॥
न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते ।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागोऽनुवर्धते ॥
-- वही ५।५१-५२

अथ सम्भोगः ॥ तत्र नायकयोः < < < <
स चतुर्धा प्रथमानुरागानन्तरः मानानन्तरः
प्रवासानन्तरः करुणानन्तरः इति ।
— वही पृ० २८४

नहीं बताई गई तब तक मिलन के सुख का क्या मूल्य होगा - अतएव कपड़े पर किसी रंग को चटक करने के लिए पहिले उसे कषाय रंग से रंग देते हैं ।

फिर बावनवें प्रकाश में किये गये अनुराग के भेदों का प्रेम के 'विचित्र' और 'रागवर्धन ' नामक दो प्रकारों से विवेचन किया गया है ।

सम्भोग के स्वाङ्गनाविषय, पराङ्गनाविषय आदि भेद एवं उनके उदाहरण तथा इसी प्रकार विप्रलम्भ के स्वाङ्गनाविषय पराङ्गनाविषय भेद एवं उदाहरण दिये गये हैं । फिर प्रथमानुराग आदि चार विप्रलम्भ के तथा तदनन्तर होने वाले चार सम्भोग के उनके सम्मिश्रण के तथा उनमें विचित्र और रागवर्धन पक्षों के उदाहरण दिये गये हैं । तदनन्तर नायिका भेदों की दृष्टि में रखकर शृङ्गार की मीमांसा की गई है । दो प्रकार के सम्पर्क बताए गये हैं ---

१- सजातीय व्यक्तियों के बीच ।

२- विजातीय व्यक्तियों के बीच ।

अनुगमन भी दो प्रकार का होता है -- १- नित्य अनुगम, २- आगन्तुक अनुगम ।

अन्त में विविध कवियों से चार विप्रलम्भ एवं चार सम्भोग के एक या एक से अधिक भेदों से युक्त उदाहरण दिये गये हैं । कुछ संयोग एवं विप्रलम्भ के दो या दो से अधिक उदाहरण दिये गये हैं । सम्भोग और विप्रलम्भ के दो या दो से अधिक भेदों से युक्त वाले उदाहरण को संविधि कहते हैं । इन संविधियों के सैकड़ों प्रकार सम्भाव्य बताये गये हैं जिनमें कुछ को संक्षेप में उदाहृत किया गया है ।[1] यह प्रकाश भोज की मौलिक उद्भावनाओं से भरा पड़ा है ।

---

१ प्रकाश के अन्त में भोज कहते हैं :--

शृङ्गारकेलिमुकुलितं प्रथमानुरागं ।

मानप्रवास करुणैरथ तदनन्तराणाम् ॥

स्थायीभावों में सर्वप्रथम गणना रति की है। यह शृङ्गाररस का स्थायीभाव है। रति एक आमोदात्मक भाव है, जो आमोद के अनुकूल ऋतु, माल्य, अनुलेपन, आभरण, प्रियजन, भोजन आदि की अनुभूति से उत्पन्न होता है। शृङ्गार रस के तो दो भेद होते हैं, किन्तु रति के दो प्रकार नहीं होते। वह तो सदा इष्टार्थ विषय की प्राप्ति में ही उत्पन्न होती है। संयोग विप्रलम्भ दोनों में वह एक ही रहती है। बल्कि विप्रलम्भ में सम्भोग से अधिक मधुर होती है। उस रति के रहने पर वाणी में अङ्गचेष्टाओं में माधुर्य स्वतः आ जाता है। अतः उसी प्रकार रति का अभिनय भी किया जाना चाहिए। रति एक सौम्य भाव है[1]।

विप्रलम्भ एवं करुण में अन्तर

भरत ने विप्रलम्भ शृङ्गार से करुण के भेद का निरूपण इस प्रकार किया है। विप्रलम्भ शृङ्गार में निर्वेद, ग्लानि, शंका, व्याधि, उन्माद, अपस्मार, जाड्य, मरण आदि जिन व्यभिचारियों को सहकारी रूप से निबद्ध किया गया है वे ही बाहुल्य के साथ करुणरस में भी होते हैं जैसा कि करुण प्रसंग में कहा गया है कि 'निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, आवेग, भ्रम, मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जड़ता, उन्माद, अपस्मार, त्रास, आलस्य, मरण, स्तम्भ, कम्पन, (वेपथु), विवर्णता, अश्रु और स्वरभेद आदि इस (करुणरस) के व्यभिचारिभाव होते हैं[2]।

---

१ इष्टार्थविषयप्राप्त्या रतिरित्युपजायते।
सौम्यत्वादभिनेया सा वाङ्माधुर्याङ्गचेष्टितैः॥
—ना० शा० ७।६

२(क) विप्रलम्भकृतस्तु निर्वेद-ग्लानि-शङ्का-असूया-श्रम-चिन्ता-औत्सुक्य-निद्रा-स्वप्न-विबोध-व्याधि-उन्माद-अपस्मार-जाड्य-मरणादिभिरनुभावैरभिनेतव्यः।
—अ० भा० पृ० ५५३

(ख) व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेद-ग्लानि-चिन्ता-औत्सुक्य-आवेग-भ्रम-मोह-श्रम-भय-विषाद-दैन्य-व्याधि-जड़ता-उन्माद-अपस्मार-त्रास-आलस्य-मरण-स्तम्भ-वेपथु-वैवर्ण्य-अश्रु स्वरभेदादयः।

—वही पृ० ५८०

तो फिर इन दोनों में क्या अंतर रहा ? वास्तविक बात यह है कि विप्रलम्भ शृङ्गार में रहने पर इन निर्वेदादिकों के अन्तर में धारावाही रूप से रति ही सापेक्षास्थिरभाव रहता है, जो पुनर्मिलन की आशा से अनुप्राणित रहता है । करुण में भी रति रही थी, किन्तु अधुना वह उच्छिन्न या निरपेक्ष रूप में रहती है, क्योंकि अब पुनर्मिलन की कोई आस नहीं रहती- जो रति का आलम्बन था अब वह शोक का आलम्बन हो जाता है[1]। अतएव कामसूत्र के पारदारिक प्रकरण में तथा नाट्यशास्त्र के सामान्याभिनय प्रकरण में अभिलाष से आरम्भ कर मरण पर्यन्त अवस्थाओं से युक्त विप्रलम्भ शृङ्गार परस्पर आस्थाबन्ध रूप रति के रहने पर ही दिखाया गया है[2]।

और फिर औत्सुक्य उस चित्तस्थितभाव के विषय (आलम्बन) की ओर उन्मुखता ही । जितने समय तक वह विषय रहता है, उतने समय ही उसके प्रति उत्सुकता रहती है । उस विषय के नष्ट हो जाने पर तो फिर उसके प्रति उत्सुकता कहां ? इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि औत्सुक्य प्रधान रहने पर ही निर्वेद चिन्ता आदि भावों से विप्रलम्भ शृङ्गार की अभिव्यंजना होती है । अतएव वह यहां रतिभाव सापेक्ष माना जाता है । करुण में तो विषय ही नष्ट हो जाता है । अतः भरतमुनि उपसंहार करते हैं --

एवमन्यः करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भ इति । -- ना० शा०

---

१ करुणस्तु शापक्लेशविनिपतितेष्टजन-विभवनाश-वध-बन्धसमुत्थो निरपेक्षभावः । औत्सुक्य-चिन्तासमुत्थः सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः । एवमन्यः करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भ इति ।

--अ० भा०, पृ० ५६५

२ तत्र तु कामस्यावस्थानानि - चक्षुः प्रीतिः मनःसङ्गः सङ्कल्पोत्पत्तिर्निद्राच्छेदस्तनुता-विषयेभ्यो व्यावृत्तिर्लज्जाप्रणाश उन्मादो मूर्छा मरणमिति तेषां लिङ्गानि ।

--का० सू० ५।१।४-५

इस सम्बन्ध में भरतमुनि ने एक बात बड़ी मार्मिक कही है वे प्रायः शृङ्गार के दोनों भेदों को एक साथ उल्लिखित कर देते हैं । यहीं उन्होंने कहा है --'एवमेष सर्वभावसंयुक्तः शृङ्गारोभवति'[1] । किन्तु अभिनव की भारती अर्थ यह तात्पर्य निकालती है कि भरत के मत से शृङ्गार रस के दो भेद होते हुये भी वह एक ही रस है दो नहीं[2] । जब भरत ने उपसंहार किया कि --'एवमेष सर्वभावसंयुक्तः शृङ्गारो भवति' तो उसकी मीमांसा करते हुये अभिनव कहते हैं कि भरत ने यहां जो शृङ्गार एक वचन का प्रयोग किया है उससे यह उपसंहार किया है कि शृङ्गार रस एक है[3] ।

भरतमुनि ने विप्रलम्भ को 'सापेक्ष' अर्थात् आशामय और करुण को 'निरपेक्ष' अर्थात् निराशामय रस कहकर उसका भेद दिखलाया है --'शाप के क्लेश में पड़े हुये इष्ट जन के विभवनाश 'वध' अथवा बन्धन आदि से उत्पन्न निरपेक्ष भाव वाला तो करुण होता है । औत्सुक्य और चिन्ता से उत्पन्न सापेक्षभाव (आशामय भाव) विप्रलम्भ से होता है । इस कारण करुण रस अलग है (अर्थात् करुण तथा विप्रलम्भ दोनों बिल्कुल अलग-अलग रस हैं) । इसलिये इन दोनों की सत्ता का पृथक् भाव है[4] ।

---

१ भा० ना० अ० ६

२ एक एवासौ (शृङ्गार) इति बहुशः उक्तम्

अ० भारती - अ० ६ पृ० ५६५

३ शृङ्गार इत्येकवचनेन एक एव शृङ्गार इत्युपसंहृतम् ।

--अ० भा० पृ० ५६५

४ करुणस्तु शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविभवनाश -वध-बन्धनसमुत्थो 'निरपेक्षभावः' । औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः । एवमन्यः करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भ इति ।

-- अ० भा० पृ० ५६५

यहाँ `सापेक्ष` और `निरपेक्ष` शब्दों का अर्थ क्रमशः `आशामय` तथा `नैराश्यमय` करना चाहिये । विप्रलम्भ में पुनर्मिलन की आशा बनी रहने से दुःखमय होने पर भी उसमें जीवन का आशामय दृष्टिबिन्दु बना रहता है । परन्तु करुणरस में पुनर्मिलन की कोई सम्भावना न रहने से निराशामय दृष्टिकोण हो जाता है । करुण के इसी नैराश्यमय रूप को भवभूति ने `तटस्थं नैराश्यात्` कहकर व्यक्त किया है । यहाँ तटस्थ शब्द निराशामय निरपेक्ष भाव को सूचित करता है । इसलिये करुण तथा विप्रलम्भ का क्षेत्र अलग-अलग है ।

करुण तथा विप्रलम्भ के इस भेद की विवेचना तो केवल दो प्रेमियों के वियोग की दो भिन्न प्रकार की दशाओं को लेकर करने की आवश्यकता पड़ी है । परन्तु इसके अतिरिक्त करुणरस का एक और भी क्षेत्र है, जो विप्रलम्भ से बिलकुल स्वतंत्र है । वहाँ दोनों के पुनर्मिलन की कोई सम्भावना ही नहीं है । `साहित्यदर्पण` आदि में `इष्टनाश` और `अनिष्टाप्ति` दोनों को करुण रस का कारण माना है[1] । इष्टनाश में नायक-नायिका किसी का नाश किसी का नाश आता है और अनिष्टाप्ति में अन्य पिता, पुत्रादि सम्बन्धियों की मृत्यु, वध, बन्धन, धननाश आदि का अन्तर्भाव होता है । यह रूप करुण का विप्रलम्भ से बिलकुल भिन्न क्षेत्र है ।

इष्टनाश से उत्पन्न करुण जैसे कुमारसम्भव के रति विलाप में — हे स्वामी, हे प्राणनाथ तुम जीवित हो न, इस तरह चिल्लाकर उठी हुई रति ने जब सामने देखा तो महादेव के क्रोधरूपी अग्नि से जलाई गई पुरुष के आकार वाली भस्म को ही पृथ्वी पर पड़ा पाया, उसको केवल राख भर दिखायी पड़ी[2] ।

---

१ इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत् ।

— सा० द० ३।२२२

२ अयि जीवितनाथ जीवसीत्यभिधायोत्थितया तया पुरः ।
ददृशे पुरुषाकृति क्षितौ हरकोपानलभस्म केवलम् ॥

— कु० सं० ४।३

भरतमुनि ने शृङ्गार का लक्षण `शृङ्गारो[1] नाम रतिस्थायिभावप्रभव:` यह किया है इसी प्रकार करुणरस का लक्षण `करुणो नाम शोकस्थायिभावप्रभव:`[2] किया है । इन लक्षणों में यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि शृङ्गार तथा करुण को अभिनव ही ने `रतिप्रभव:` और `शोकप्रभव:` अर्थात् स्थायिभाव से उत्पन्न होने वाला कहा है परन्तु हास्य आदि रसों को `स्थायिभावप्रभव:` न कहकर `स्थायिभावात्मक:` कहा है । इसी प्रकार शृङ्गार तथा करुणरसों को छोड़कर अन्य सब रसों को `स्थायिभावात्मक:` माना है । केवल शृङ्गार तथा करुण को `स्थायिभावप्रभव:` माना है । रसों के स्थायिभाव हासात्मक प्रतीति को उत्पन्न करते हैं किन्तु शृङ्गार तथा करुण के स्थायिभाव सजातीय प्रतीति को उत्पन्न नहीं करते हैं इसलिये उनको `स्थायीभावात्मक` कहा गया है । यह भेद का एक कारण है ।

भेद का दूसरा कारण विभावादि के असाधारण्य तथा साधारण्य को माना है अर्थात् काव्य नाटक में ही वे उस रस प्रतीति के व्यंजक होते हैं लोक में नहीं। जैसे लोक में दो प्रेमियों की रतिलीला को देखकर रसानुभूति न होकर लज्जादि की प्रतीति होती है परन्तु काव्य नाटक आदि में वही रसानुभूति की व्यंजक बन जाती है ।इसलिये करुण तथा शृङ्गार के विभावादि लोकसाधारण न होकर के अलौकिक या असाधारण होते हैं । परन्तु हास्यादि रसों के विभाव आदि लोक-साधारण होते हैं । जिन विकृत वेषादि से काव्य नाटकीय में हास्य रस की निष्पत्ति होती है वे लोक में भी हास्यजनक होते हैं । इस प्रकार भरतमुनि ने शृङ्गार तथा करुण को `स्थायिभावप्रभव` और शेष रसों को `स्थायिभावात्मक` कहा है ।

अभिनवगुप्त के शब्दों में `काल और अदृष्ट तत्व के समान अन्यायकारी की अनीति और दुष्टता आदि उसके प्रति उत्साह, क्रोध, भय, घृणा और विस्मय का हेतु होती है । इसलिये [शृङ्गार तथा करुण को छोड़कर उसके]

---

१ अ० भारती, पृ० ६३४

२ वही , पृ० ६४६

विभावों से । लोकवत् । साधारण होते हैं[1] । अन्य सब रस स्थायिभावात्मक हैं । शृङ्गार और करुण स्थायिभाव-प्रधान हैं । ।

विरोधी तथा अविरोधी रस—विप्रलम्भ की दृष्टि से —

विरोधी तथा अविरोधी रस के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम विशद चर्चा की है और उनके अनुकरण पर मम्मट ने । उन्होंने रस दोषों पर विवेचन करते हुये रस-विरोध (रस-भंग) के अनेक[2] कारणों में से एक कारण गिनाया- विरोधी-रस सम्बन्धी विभाव आदि का (ग्रहण) । इसका तात्पर्य यह है कि कुछ रस परस्पर मित्र होते हैं और कुछ शत्रु अर्थात् विरोधी ।

परस्पर अविरोधी रस यह हैं --शृङ्गार और हास्य, शृङ्गार और अद्भुत, करुण और शान्त, करुण, भयानक और बीभत्स (कोई दो अथवा तीनों) आदि परस्पर मित्र हैं । इन रसों के एक साथ वर्णन में कोई आघात नहीं होता -- काव्यास्वाद प्राप्ति में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती । यहां यह ज्ञातव्य है कि परस्पर मित्र रसों में से किसी एक रस को अंगी (प्रधान एवं प्रमुख) माना जायेगा और शेष एक अथवा दो तीन को अंग (अप्रधान, गौण एवं सहायक) ।

अब विरोधी रस लीजिये - (१) शृङ्गार के विरोधी रस हैं - करुण, बीभत्स, वीर, भयानक, शान्त आदि । इसी प्रकार (२) भयानक और करुण का हास्य से विरोध है, (३) हास्य और शृङ्गार का करुण से, (४) रौद्र

---

१ विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः ।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम् ॥
— ध्वन्या० ३।१८

२ इस प्रसंग में 'रस' शब्द से तात्पर्य स्थायिभाव लेना चाहिए —'रसशब्देन च स्थायिभाव उपलक्ष्यते ।
—का० प्र० ७ म उल्लास : अन्तिम पंक्ति

का हास्य और भयानक है, (५) भयानक का शृङ्गार, वीर, रौद्र, हास्य और शान्त है, (६) वीर का शान्त है, (७) शान्त का शृङ्गार, रौद्र, भयानक और हास्य है आदि[1]।

आनन्दवर्धन के कथनानुसार परस्पर शत्रु रसों के विभाव, अनुभाव और संचारीभावों का ग्रहण करना सदोष माना गया है[2]। उदाहरणार्थ --शृङ्गार रस के प्रसंग में शान्तरस के ग्रहण का उदाहरण लीजिये ।

कामिनी ने प्रणय कलह से कुपित होकर प्रणयमान किया । प्रिय ने बहुत मनाया, किन्तु वह न मानी । प्रिय ने उसे वैराग्य का उपदेश दे डाला--

प्रसादे वर्तस्व प्रकटय मुदं सन्त्यज रुषम् ।
न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः ॥

इसी प्रकार --

मानं मा कुरु तन्वङ्गि ज्ञात्वा यौवनमस्थिरम्[3] ।

निःसन्देह इस प्रकार के प्रसंग परस्पर विरोधी हैं और रस-भंग का कारण है । इस प्रकार प्रणयमान में प्रिया के प्रसन्न न होने की स्थिति में क्रोध के आवेश में आकर नायक के क्रोध के अनुभावों का वर्णन करना भी रसभंग का कारण है ।

---

१ आद्यः करुणबीभत्सरौद्रवीरभयानकैः ।
भयानकेन करुणेनापि हास्यो विरोधभाक् ॥
शृङ्गारेण तु बीभत्स इत्याख्याता विरोधिता ।
कुतोऽपि तु स्थायी न याति रसैर्विरोधिताम् ॥

-- सा० द० ३।२५४, पृ०

२ विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः ।

-- ध्वन्या० ३।१८

३ भा० तथा पा० काव्यशास्त्र से उद्धृत - पृ० १२६

रसों का परस्पर विरोध तीन रूपों में सम्भव है[1] —

(१) आलम्बन की एकता में — जैसे (क) शृङ्गार और वीररस एक आलम्बन में होने पर परस्पर विरुद्ध हैं । जिस आलम्बन के प्रति शृङ्गार उत्पन्न हो यदि उसी आलम्बन के प्रति वीर उत्पन्न हो तो वह दोष कहलाता है । इसी प्रकार (ख) हास्य, रौद्र, वीभत्स रस के साथ सम्भोग शृङ्गार का, तथा (ग) वीर, करुण, रौद्र और भयानक आदि के साथ विप्रलम्भ शृङ्गार का आलम्बन की एकता में विरोध होता है ।

(२) आश्रय की एकता में — वीर और भयानक रसों का एक आश्रय में समावेश करना परस्पर रस-विरोध का कारण है । नायक को एक साथ वीर और भीत वर्णित करना स्पष्टत: दोष है ।

(३) निरन्तरता और विभावों की एकता से — जैसे शान्त और शृङ्गार का बिना किसी व्यवधान के वर्णन करना दोष है ।

किन्तु ऐसा होने पर भी किन्हीं स्थितियों में परस्पर विरोधी रस अंगी रस के सहायक बन कर काव्य में अपेक्षाकृत कहीं अधिक चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं । उदाहरणार्थ -- विप्रलम्भ शृङ्गार में व्याधि नामक संचारिभाव का वर्णन करना दोष नहीं है, अपितु गुण है, यद्यपि `व्याधि' संचारिभाव करुण आदि रसों के लिये उचित है किन्तु इस प्रकार के प्रसंगों में भी सीमा का उल्लंघन कर देना उचित नहीं है । उदाहरणार्थ -- `विप्रलम्भ शृङ्गार में' व्याधि का वर्णन तो सकता है पर मरण का सकता नहीं है, क्योंकि वहाँ प्रस्तुत रस विप्रलम्भ शृङ्गार का परिपोष न होकर करुणरस का परिपोष होने लगेगा जोकि अप्रस्तुत है । हाँ यदि प्रस्तुत रस करुण है तो वहाँ मरण संचारिभाव का वर्णन नितान्त संगत है[2] ।

---

१ इह खलु रसानां विरोधिताया अविरोधितायाश्च त्रिधा व्यवस्था ।
क्वचिदालम्बनैक्येन ;क्वचिदाश्रयैक्येन ; क्वचिन्नैरन्तर्येणेति ।
तत्र वीरशृङ्गारयोरालम्बनैक्येन विरोध: ।
— सा० द० पृ० २४२

२ तदङ्गत्वे च सम्भवत्यपि मरणस्योपन्यासो न ज्यायान् ।
आश्रयविच्छेदे रसस्यात्यन्तविच्छेदप्राप्ते: । करुणस्य तु तथाविधे
विषये परिपोषो भविष्यतीति चेत् न । तस्याप्रस्तुतत्वात्,
प्रस्तुतस्य च विच्छेदात् । यत्र तु करुणरसस्यैव काव्यार्थत्वं तत्राविरोध: ।
--ध्वन्या० ३।२० की वृत्ति

अथवा शृङ्गार में जहां शीघ्र ही उसका समागम हो सके ऐसे स्थान पर मरण का वर्णन भी अत्यन्त विरोधी नहीं है । । परन्तु जहां । दीर्घकाल बाद पुनः सम्मिलन हो सके वहां तो बीच में रस-प्रवाह का विच्छेद हो ही जाता है अतएव रसप्रधान कवि को इस प्रकार के इतिवृत्त से बचाना चाहिये[1] ।

भरतमुनि ने जोकि मरण को विप्रलम्भ शृङ्गार में भी व्यभिचारिभाव माना है वह इसी अदीर्घकाल प्रत्यापत्ति के आधार पर माना है और इसका वर्णन भी उस रूप में कालिदास आदि के ग्रन्थों में मिलता है । कालिदास ने रघुवंश में लिखा है -- इन्दुमती के मर जाने पर आठ वर्ष की बीमारी के बाद अज ने गंगा और सरयू के संगम पर शरीर त्यागकर देवत्व को प्राप्त किया और उस देवलोक में पहिले ही पहुंची हुई, पहिले से अधिक सुन्दर कान्ता इन्दुमती के साथ नन्दनवन के भीतर बने क्रीडाभवनों में रमण किया[2] ।

यहां वर्णित मरण इसी श्लोक में वर्णित रति का अङ्ग है । इस रूप में शृङ्गार का अंग माना गया है । 'तत्र स्फुटैव मरणाख्य' लिखकर लोचनकार ने उसकी रसाङ्गता का पोषण किया है ।

---

१ शृङ्गारे वा मरणस्यादीर्घकालप्रत्यापत्तिसम्भवे कदाचिदुपनिबन्धनो नात्यन्तविरोधी । दीर्घकालप्रत्यापत्तौ तु तस्यान्तरा प्रवाहविच्छेद एवेत्येवंविधेतिवृत्तोपनिबन्धनं रसबन्धप्रधानेन कविना परिहर्तव्यम् ।

-- ध्वन्या ३।२० की वृत्ति

२ 'तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वोः
देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः ।
पूर्वाकाराधिकचतुरया सङ्गतः कान्तयासौ,
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ।।'

-- रघु० ८।९५

पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने 'रसगङ्गाधर' नामक ग्रन्थ में शृङ्गार के प्रकरण में 'मृतप्रायमरण' अर्थात् मरण जैसी स्थिति और 'केवल आकांक्षित मरण' दो रूप से मरण के वर्णन का विधान किया है । जैसे —

'दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती शयने सम्प्रति या विलोकितासीत् ।
अधुना खलु हन्त सा कृशाङ्गी गिरमङ्गीकुरुते न भाषितापि ॥[1]

इसमें मृतप्राय मरण जैसी स्थिति का और निम्नलिखित श्लोक में मन से आकांक्षित मरण का वर्णन किया है ।

'रोलम्बाः परिपूरयन्तु हरितो झङ्कारकोलाहलैः,
मन्दं मन्दमुपैतु चन्दनवनीजातो नभस्वानपि ।
माद्यन्तः कलयन्तु चूतशिखरे केलीपिकाः पञ्चमम्,
प्राणाः सत्वरमश्मसारकठिना गच्छन्तु गच्छन्त्वमी ॥[2]

इस प्रकार मृतप्राय, मनसा आकांक्षित तथा अचिर प्रत्यापत्ति-युक्त इन तीन रूपों में शृङ्गार रस में भी मरण का वर्णन प्राचीन कवि परम्परा में पाया जाता है और भरतमुनि को भी अभिप्रेत जान पड़ता है । परन्तु वास्तविक आत्यन्तिक मरण किसी को अभिप्रेत नहीं अतएव साहित्यदर्पणकार आदि जिन आचार्यों ने मरण को शृङ्गार में व्यभिचारिभाव नहीं माना है उनका वास्तविक या आत्यन्तिक मरण के निषेध से ही है ।

आनन्दवर्धन के अनुसार विरोधी रसों के दोष परिहार के निम्नोक्त दो उपाय हैं[3] —

१- जब विरोधी रस अंगीरस के बाध्य रूप में वर्णित हो ।

---

१ र० गं० - पृ० १७२

२ वही

३ विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम् ।
बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला ॥
—ध्वन्या० ३।२०

२- जब विरोधी रस अंगीरस के अंगभाव को प्राप्त होकर वर्णित हो[1]।

आनन्दवर्धन के इस कथन तथा इससे सम्बद्ध अन्य धारणाओं से प्रेरणा प्राप्त कर मम्मट ने इस प्रकरण को निम्नोक्त रूप में प्रस्तुत किया है —

प्रस्तुत रस के विरोधी रस यदि बाध्य रूप में वर्णित हों तो वह दोष न रह कर गुण बन जाते हैं[2]। यह स्थिति दो उपायों में सम्भव है—

(१) जो रस आश्रय (अथवा आलम्बन) की एकता में विरोधी हो उसे भिन्न आश्रय (अथवा आलम्बन) में वर्णित करना चाहिए । जैसे- वीर और भयानक रसों का एक आश्रय (अथवा आलम्बन) में परस्पर विरोध है, इसलिये भयानक रस को प्रतिनायक में वर्णित कर देने में दोष नहीं रहता[3]।

(२) शान्त और शृङ्गार रसों का निरन्तर साथ-साथ वर्णन किया जाए तो यह दोष है, किन्तु इन दोनों के बीच कोई दूसरा रस वर्णित कर देने से यह दोष नहीं रहता[4]।

---

१ यह अंगरूपता तीन रूपों में सम्भव है —

(क) स्वाभाविक अंगरूपता

(ख) आरोपित अंगरूपता

(ग) प्रधान रस के प्रति दो विरोधी रसों अथवा भावों की अंगरूपता

—भा० तथा पा० काव्यशास्त्र, पृ० १२८

२ संचार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा ।। --का०प्र० ७।६२

३ आश्रयैक्ये विरुद्धो यः स कार्यो भिन्नसंश्रयः ।
रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः ।। -- वही ७।६४

४ उदाहरणार्थ नागानन्द नाटक में 'अहो गीतम् अहो वादित्रम्' यह पद अद्भुत रस का द्योतक ; जो एक ओर जीमूतवाहन की शान्तरस-प्रधान भावना और दूसरी ओर उसके मलयवती के प्रति अनुराग के बीच वर्णित होने के कारण शान्त और शृङ्गार रसों के विरोध को मिटा देता है ।

-- वही, पृ० ३७२

उक्त दो उपायों के अतिरिक्त मम्मट ने तीन अन्य उपाय भी निर्दिष्ट किये हैं जिससे वह विरोधी रसों का प्रयोग दोष न रह कर गुण बन जाता है --

१- यदि विरोधी रस स्मर्यमाण रूप में वर्णित हो ।

२- यदि विरोधी रस को प्रकृत रस के साम्य से वर्णित करना अभीष्ट हो ।

३- यदि विरोधी रस अंगी (प्राकृत) रस के अंगरूप में वर्णित हो[1] ।

वस्तुत: उक्त पांच उपायों में अन्तिम उपाय ही प्रमुख एवं पर्याप्त है -- अंगी रस के प्रति विरोधी रस का अंग रूप में वर्णित करना, और शेष चारों उपाय इसी के पोषक एवं सहायक तत्व हैं । वस्तुत: इन सहायक तत्वों की संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती । कवि की कल्पना एवं वर्णन-कौशल के आधार पर ये अनेक रूपों में सम्भाव्य हैं ।

<u>करुण विप्रलम्भ एवं करुण-भेद निरूपण -</u>

करुण विप्रलम्भ एवं करुणरस की स्थिति के विषय में कभी-कभी भ्रम हो जाता है । उनकी सीमा अलग-अलग है । भ्रम की संभावना मुख्यत: प्रेमियों की अवस्थाओं में रहती है । प्रेमियों का वियोग दो प्रकार का होता है --(१)स्थायी वियोग,(२) अस्थायी वियोग । दोनों प्रेमियों के जीवन काल में जो वियोग किसी भी कारण से होता है वह अस्थायी वियोग होता है और वह विप्रलम्भ शृङ्गार की सीमा में आता है । किन्तु दोनों प्रेमियों में से किसी एक की मृत्यु हो जाने पर जो वियोग होता है, उसमें मिलने की आशा या सम्भावना नहीं रहती है । इसलिये वह स्थायी वियोग होता है । वह करुण रस की सीमा में आता है । इसी प्रकार जहां तक प्रेमियों के वियोग का सम्बन्ध है,उसमें विप्रलम्भ शृङ्गार तथा करुण रस की सीमा रेखा मृत्यु है । मृत्यु के पूर्व विप्रलम्भ शृङ्गार की और मृत्यु के बाद करुण रस का क्षेत्र होता है ।

---

१ स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः ।
अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम् ॥
--का० प्र० ७।६५

करुण तथा करुणविप्रलम्भ दोनों रस वियोग से सम्बद्ध चित्त की विकलता से उत्पन्न होते हैं । दोनों में वेदना की प्रधानता रहती है, अतः इन दोनों रसों के स्वभाव के विषय में भ्रम होना स्वाभाविक है वस्तुतः उपर्युक्त दोनों रस भिन्न हैं । करुण विप्रलम्भ रति स्थायीभाव[1] से उत्पन्न होता है । इसके विपरीत करुण रस शोक स्थायीभाव से उद्भूत होता है । करुण विप्रलम्भ में पुनर्मिलन[2] की आशा बनी रहती है, जबकि करुण रस में इसकी कोई सम्भावना नहीं रह जाती है ।

यह सीमा रेखा केवल रति विषयक वियोग में ही हो सकती है। इससे भिन्न सम्बन्ध होने पर वियोग चाहे स्थायी हो या अस्थायी, वह करुण के क्षेत्र में आयेगा । उदाहरण के लिये वाल्मीकि रामायण में राम का वनगमन एक विशेष अवधि के लिये ही होता है । इस अवधि की समाप्ति के पश्चात् दशरथ को राम मिलन की पूर्ण आशा रहती है तथापि वह उनके विरह में व्याकुल हो उठते हैं और उनकी यह व्याकुलता उनके प्राणान्त का कारण बन जाती है । इसी प्रकार कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' में जब शकुन्तला कण्व के आश्रम से विदा होकर दुष्यन्त के घर जाने लगती है तब कण्व और शकुन्तला के पुनर्मिलन की आशा बिल्कुल समाप्त हो जाती है यह बात नहीं है इतने पर कण्व को शकुन्तला का[3] वियोग असह्य हो जाता है और दुःखातिरेक से उनका कण्ठ-बाष्प गद्गद् हो उठता है । इन दोनों प्रसङ्गों में आत्यन्तिक

---

१ शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादयं रसः ।
विप्रलम्भे रतिः स्थायी पुनः सम्भोगहेतुकः ॥
— सा० द० ३।२२६

२ यः शोकः स्थायीभावो निरपेक्षभावत्वात्
विप्रलम्भशृङ्गारोचितरतिस्थायीभावादन्य एव .... ।
— ध्वन्या० (लोचन) १।५

३ यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया,
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम् ।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमपि स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥
— अ० शा० ४।८

वियोग न होने पर भी करुण रस की अनुभूति होने लगती है,क्योंकि यहां पर जो वियोग है वह स्त्री-पुरुष विषयक नहीं,अपितु अन्य सम्बन्धों से अधिक है ।

रुद्रट[1], भोजराज[2], विश्वनाथ[3] आदि आचार्यों ने करुणरस से पृथक् शृङ्गार रस के अन्तर्गत 'करुण-विप्रलम्भ' नामक एक उपभेद की कल्पना की है । उनके अनुसार जहां दो प्रेमियों में से एक की मृत्यु हो जाती है,परन्तु कालान्तर में उनका पुनर्मिलन हो जाता है वस्तुत: किसी की मृत्यु होती ही नहीं है किन्तु समझ ली जाती है, वह करुण-विप्रलम्भ नहीं माना जायेगा । इसके लिये एक ही शरीर से पुनर्मिलन आवश्यक है । संस्कृत काव्यों तथा नाटकों में ऐसे कथाप्रसङ्ग अनेकों स्थलों पर पाये जाते हैं । इस प्रकार का उदाहरण 'कादम्बरी' में पुण्डरीक तथा महाश्वेता के वृत्तान्त में मिलता है । पुण्डरीक के मर जाने के बाद महाश्वेता और कपि... विलाप कर रहे हैं । इसी बीच में कोई दिव्य ज्योति आकर पुण्डरीक के मृत शरीर को उठा ले जाती है और महाश्वेता को आश्वासन दे जाती है कि तुम्हारा इससे फिर मिलन होगा । इससे आकाशवाणी के पूर्व का महाश्वेता आदि का विलाप है वह स्पष्ट ही करुणरस है । उसके बाद मिलन की आशा हो जाने से विप्रलम्भ कहा जा सकता है[4] । पुनर्मिलन की

---

1 करुण: स विप्रलम्भो यत्रान्यतरो म्रियेत नायकयो: ।
यदि वा मृतकल्प: स्यात्तत्रान्यस्तद्गतं प्रलपेत् ॥
-- का० (रु०) १४।३४

2 लोकान्तरगते यूनि वल्लभे वल्लभा यदा ।
भृशं दु:खायते दीना करुण: स तदोच्यते ॥
-- स० कं० ५।५०

3 यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये ।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भाख्य: ॥
-- सा० द० ३।२०९

4 वत्से महाश्वेते । न परित्याज्या: त्वया प्राणा:,
पुनरपि तवानेन सह भविष्यति समागम: ।
--कादम्ब० पूर्वभाग, पृ० ३१२-१३

जाता है महाश्वेता के हृदय में रति भाव उद्बुद्ध[1] हो जाता है और सहृदय हृदय करुण-विप्रलम्भ शृङ्गार का आस्वादन करने लगता है ।

परन्तु मम्मट आदि अन्य आचार्यों ने 'करुण विप्रलम्भ' नामक शृङ्गार का कोई भेद नहीं माना है । उनके मत में यह करुण रस की सीमा के ही अन्तर्गत है । हाँ, आकाशवाणी के पश्चात् उसे कथञ्चित् विप्रलम्भ माना जा सकता है । परन्तु यह उदाहरण केवल कवि की कल्पना मात्र है । यथार्थ में तो अन्त तक करुण ही रह सकता है । क्योंकि व्यवहार में ऐसा तभी तक हो सकता है जब वास्तव में मृत्यु न हुयी हो, दूर चला ही गयी हो । ऐसे स्थल पर पुनर्मिलन एकदम अप्रत्याशितरूप से ही होता है इसलिये करुणरस की मर्यादा रहती है और आकस्मिक पुनर्मिलन पर अद्भुत रस का उदय हो जाता है[2] ।

वस्तुत: कादम्बरी के प्रस्तुत उदाहरण में करुण और अद्भुत रसों का मिश्रण नहीं माना जा सकता है । यहाँ पर पुण्डरीक की मृत्यु हो जाने के कारण महाश्वेता और उसका आत्यन्तिक वियोग हो जाता है जिससे यह प्रसङ्ग करुण की सीमा में आ जाता है तभी आकाशवाणी के द्वारा महाश्वेता के हृदय में पुण्डरीक के साथ पुनर्मिलन की आशा जागृत हो जाती है और वह अपने प्राण-त्याग का विचार छोड़ देती है । यहाँ महाश्वेता में पुनर्मिलन की आशा जागृत हो जाने के कारण विप्रलम्भ ही माना जायेगा, शोकस्थायिभावात्मक करुण नहीं । यहाँ पुण्डरीक और महाश्वेता का वियोग पुनर्मिलन में पर्यवसित होने के कारण सापेक्ष है । शिङ्गभूपाल ने भी रसार्णवसुधाकर में करुण और करुण-विप्रलम्भ का भेद बतलाते हुये स्पष्ट कर दिया है कि (नायक और नायिका) दोनों में से किसी एक की मृत्यु हो जाने पर जब

---

१ 'किञ्चात्राकाशसरस्वतीभाषानन्तरमेव शृङ्गारः, सङ्गमप्रत्याशया रतेरुद्भवात् । प्रथमन्तु करुण एव इत्यभियुक्ता मन्यन्ते ।'

— सा० द० ३।२०९ (वृत्ति)

२ का० प्र० हि० व्याख्या (विश्वेश्वर) पृ० १२६

तक उनके पुनर्मिलन की आशा रहती है, तब तक (करुण) विप्रलम्भ रहता है । इसके विपरीत जब पुनर्मिलन की आशा समाप्त हो जाती है तब करुण रस हो जाता है[1] ।

कुछ विद्वानों के अनुसार कादम्बरी में आकाशवाणी के द्वारा महाश्वेता के हृदय में पुण्डरीक के मिलन की आशा जागृत हो जाने के बाद भी करुण-विप्रलम्भ नहीं, अपितु प्रवास विप्रलम्भ ही है । पुण्डरीक और महाश्वेता भिन्न देश के ही नहीं, अपितु भिन्न लोक के निवासी अवश्य हो गये हैं, किन्तु आकाशवाणी के पश्चात् महाश्वेता के मन में पुण्डरीक के प्रति अनुराग उद्बुद्ध हो जाता है अतः यहां प्रवास-विप्रलम्भ है[2] । इस प्रकार धनञ्जय[3], शारदातनय[4] तथा रूपगोस्वामी[5] ने भी इसको शापज नामक प्रवास-मूलक विप्रलम्भ शृङ्गार के अन्तर्गत सन्निविष्ट किया है । उनके अनुसार किसी कार्य, आवेग तथा, शाप वश जब नायक अथवा नायिका के भिन्न देश स्वरूप तथा परिस्थिति में

---

१ यूनोरेकस्य मरणे पुनरुज्जीवनावधौ ।।
विरहः करुणोऽन्यस्य सङ्गमाशानिवर्तनः ।
करुणभ्रमकारित्वात् सोऽयं करुण उच्यते ।।

-- र० सु० २।२१८, १९

२ कादम्बर्यां तु प्रथमं करुण आकाशसरस्वतीवचनादूर्ध्वं प्रवास शृङ्गार इति ।

--द० रू० (अवलोक) ४।६७

३ स्वरूपान्यत्वकरणाच्छापजः सन्निधावपि

-- वही ४।६६

४ प्रवासो भिन्नदेशत्वं तच्छापाद्बुद्धिपूर्वतः ।
सम्भ्रमादपि तत्रैव बुद्धिपूर्वोऽक्रिया मतः ।।

-- भा० प्र० पृ० ८६

५ पूर्वसङ्गतयोर्यूनोर्भवेद्देशान्तरादिभिः ।
व्यवधानं तु यत्प्राज्ञैः स प्रवास इतीर्यते ।
तज्जन्यविप्रलम्भोऽयं प्रवासत्वेन कथ्यते ।

-- उ० नी० म० पृ० १३९,४०

रहना पड़ता है तब प्रवास विप्रयोग होता है । उससे पृथक् शृङ्गार का करुण-विप्रलम्भ नामक अन्य भेद नहीं माना जा सकता है[1]। किन्तु इस प्रसङ्ग में प्रवास-विप्रलम्भ मानना भी समीचीन नहीं प्रतीत होता है । प्रवास और करुण में परस्पर भेद है -- प्रवास का अभिप्राय है --शरीरदेशान्तरगमन तो करुण का अभिप्राय है- शरीर के बिना (केवल प्राणों का) देशान्तरगमन[2]। महाश्वेता और पुण्डरीक के इस वृत्तान्त में पुण्डरीक का लोकान्तरगमन शरीर के बिना होने के कारण आकाशवाणी से पहले तक करुणरस माना जा सकता है,क्योंकि एक की मृत्यु हो जाने पर जहां दूसरा विलाप करता है वहां करुण ही हो सकता है, प्रवास विप्रलम्भ नहीं । जब आलम्बन है ही नहीं तो शृङ्गार की सीमा ही नहीं हो सकती है । वहां तो शोक स्थायीभाव करुण रस होगा[3] । किन्तु मरण के पश्चात् भी दैवी शक्ति से मृत व्यक्ति पुनरुज्जीवित हो उठे तो वहीं मिलन की आशा उत्पन्न हो जाने के कारण करुण-विप्रलम्भ मानना उचित होगा उपर्युक्त उदाहरण में ऐसा ही स्थल है । इस प्रकार ऐसे प्रसङ्गों में करुण से भिन्न करुण विप्रलम्भ नामक शृङ्गाररस का प्रभेद माना जाना ही उचित है । कादम्बरी के उपर्युक्त तथा सत्यवान तथा सावित्री जैसे अन्य प्रसङ्गों से यह स्पष्ट है कि करुण से भिन्न शृङ्गार रस का करुण-विप्रलम्भ नामक उपभेद अवश्य होता है । इसका अन्तर्भाव न तो करुण रस में हो सकता है और न ही इसके बिना विप्रलम्भ शृङ्गार के सभी भेदों की कल्पना की जा सकती है । विश्वनाथ कविराज ने पुण्डरीक तथा महाश्वेता के वृत्तान्त को करुणविप्रलम्भ का उदाहरण माना है[4]। उनका कथन है कि नायक और नायिका

---

१ विप्रलम्भं परं केचित्करुणाभिदमूचिरे ।
स प्रवास विशेषत्वान्नैवास्य पृथगीरितः ।।
- वही पद्य १७०

२ शरीरेण देशान्तरगमने प्रवासः प्राणैर्देशान्तरगमने करुण इति ।
- र० सु० २।२१६ वृत्ति

३ मृते त्वेकत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः ।
व्याश्रयत्वान्न शृङ्गारः प्रत्यापन्ने तु नेतरः ।। -- स० क० ४।६०

४ सा० द० - तृतीय परिच्छेद, पृ० ११३

में से किसी एक के दिवंगत हो जाने पर जब दूसरा दु:खित होता है, तब करुण-विप्रलम्भ होता है। यह तभी होता है जब मरे हुये व्यक्ति के इसी जन्म में पुन: मिलने की आशा हो[1]।

विश्वनाथ ने पुण्डरीक और महाश्वेता के वृत्तान्त के सम्बन्ध में अपने मत के अतिरिक्त दो मत और उद्धृत किये हैं --

१- पहले प्रकार के लोग शृङ्गार तब मानते हैं जब आकाशवाणी हो जाती है और महाश्वेता को मिलने की आशा हो जाती है। उसके पहले करुण रस मानते हैं[2]।

२- दूसरे प्रकार के लोगों का कथन है कि आकाशवाणी के बाद भी यहाँ करुण-विप्रलम्भ नहीं, अपितु प्रवासविप्रलम्भ शृङ्गार ही है[3]।

विश्वनाथ ने जो द्वितीय मत उद्धृत किया है वह दशरूपककार का मत है। दशरूपककार का कथन है --"नायक और नायिका के समीप रहने पर भी वहाँ उनका स्वभाव या रूप शाप के कारण बदल दिया जाए, वहाँ शापज प्रवास होता है। जैसे --कादम्बरी में शाप के कारण वैशम्पायन (पुण्डरीक) तथा महाश्वेता का वियोग[4]।

दशरूपककार आकाशवाणी के पहले करुणरस मानते हैं और आकाशवाणी के बाद प्रवास-विप्रलम्भ[5]। वे कहते हैं कि यदि एक व्यक्ति के मर जाने

---

१ सा० द० ३।२०९

२ वही ३।२०९ की वृत्ति

३ वही

४ स्वरूपान्यत्वकरणाच्छापज: सन्निधावपि ।
यथा कादम्बर्यां वैशम्पायनस्येति ॥
— द० रू० ४ प्रकाश, पृ० २७०

५ कादम्बर्यां तु प्रथमं करुण आकाशसरस्वतीवचनादूर्ध्वं प्रवासशृङ्गार एवेति ।
— वही पृ० २७०

पर दूसरा विलाप करे, तो शोकभाव ही होता है, प्रवासविप्रलम्भ नहीं । आलम्बन के विद्यमान न रहने के कारण शृङ्गार नहीं माना जा सकता और मृत्यु के बाद पुनरुज्जीवित होने पर करुण नहीं ।

दशरूपककार के मत का खण्डन करने वाले कहते हैं कि समागम की आशा के अनन्तर भी विप्रलम्भ शृङ्गार का प्रवास नामक भेद नहीं है क्योंकि मरण रूप विशेष दशा आ जाती है[2] ।

शुद्ध करुण में तो शृङ्गार का स्पर्श ही नहीं हो सकता । करुण विप्रलम्भ तो शृङ्गार ही है जैसे कालिदास का --'विलाप करती हुयी रति अपने मृत पति को सम्बोधित करती हुई कहती है --'सुन्दर शरीर को पुनः धारण कर उठकरके प्रिय उक्तियों में स्वभावतः प्रगल्भ कोकिल को संयोग की दूतियों के स्थानों में आदेश दो ।' ।। कुमारसंभव ।।'[3] इस प्रकार के उदाहरण में जहां मृत्यु नहीं हुई हो परन्तु मृत्यु समझ ली जाती है संस्कृत साहित्य में अनेक पाये जाते हैं । महाकवि भवभूति का 'उत्तररामचरित' नाटक इसका सबसे सुन्दर उदाहरण है । रामचन्द्र के आदेश से लक्ष्मण गर्भवती सीता को वाल्मीकि के आश्रम के पास जंगल में छोड़ आये हैं ।

----

१ मृते त्वेकत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः ।
व्याश्रयत्वान्न शृङ्गारः, प्रत्यापन्ने तु नेतरः ।।
--द० रू० ४ ।६७

२ यच्चात्र संगमप्रत्याशानन्तरमपि भवतो विप्रलम्भशृङ्गारस्य प्रवासाख्यो भेद इति केचिदाहुः तदन्ये 'मरणरूपविशेष संभवात्तद्भिन्नमेव इति मन्यन्ते ।
-- सा० द० ३। पृ० ११४

३ शुद्धे हि करुणे शृङ्गारस्पर्श एव न विद्यते । करुणविप्रलम्भस्तु शृङ्गार एव । यथा कालिदासस्य --'प्रतिपद्य मनोहरं वपुः पुनरप्यादिश तावदुत्थितः । रतिदूतिपदेषु कोकिलां मधुरालापनिसर्गपण्डिताम् ।।'
--टीका नमिसाधु (काव्या० (रु०) पृ० ३१४

है तथा देश काल आदि के बन्धन से अनालिंगित होने के अनुकूल कारण सहृदय सामाजिक को केवल 'शोक' रूप में ही प्रतीयमान होगा। कवि की साधारणीभूत संवित की ही शोक रूप में अभिव्यक्ति हुई है, अतएव सामाजिक का वासना-रूप शोक भाव उद्बुद्ध हो उठेगा और चूंकि वह स्वगत-परगत आदि बन्धनों से मुक्त होता है। अतः वह शोक साधारणीभूत रूप में ही आस्वाद्य होगा और साधारणीभूत भाव अब भी आस्वाद्य होगा, केवल सुखात्मक होगा, क्योंकि वह चिन्मय प्रकाशानन्द स्वात्मिका संवित का ही स्वरूप है[1]।"

शास्त्रीय दृष्टि में 'उत्तररामचरित' नाटक का अंगीरस करुण रस न होकर विप्रलम्भ शृङ्गार ही है, किन्तु एक समस्या अब भी शेष है। विप्रलम्भ शृङ्गार के पांच भेदों में से किसे इस नाटक के साथ सम्बन्ध किया जाए। स्पष्ट है कि पूर्वराग, मान, प्रवास और शापहेतुक-विप्रलम्भ शृङ्गार के इन चार भेदों में से किसी को भी यहां स्वीकार्य नहीं किया जा सकता। शेष रहा करुणविप्रलम्भ शृङ्गार, इसे भी स्वीकृत नहीं कर सकते, क्योंकि इसकी भी निजी सीमा है। नायक-नायिका में से एक की मृत्यु हो जाने पर भी पुनर्मिलन की आशा बनाये रखने पर मन की जो दुःखी अवस्था रहती है वही करुण विप्रलम्भ शृङ्गार माना जाता है[2]। जैसे कि कादम्बरी में पुण्डरीक महाश्वेता के प्रसंग में। किन्तु उत्तररामचरित में तो यह स्थिति भी नहीं है क्योंकि दोनों जीवित है- यदि किसी स्थिति में, राम की दृष्टि से ही सही, सीता को जीवित न भी माने तो भी प्रेक्षक की दृष्टि से वे दोनों जीवित है ही। इस दृष्टि से उत्तररामचरित का अंगी रस करुण रस ही होगा न कि करुण विप्रलम्भ शृङ्गार। क्योंकि करुणविप्रलम्भ शृङ्गार में नायक मरता है या नायिका नायक मृतकल्प होता है या नायिका इस प्रकार चार प्रकार का होता है[3]।

---

१ सं० का० शा० में शा०, पृ० १४१

२ सा० द० ३।२०९

३ नायको म्रियेत नायिका वा ; तथा नायको मृतकल्पो नायिका वा भवतीति चत्वारः प्रकाराः।

--सा० टीका नमिसाधु, पृ० ४०३

रसवादी विश्वनाथ का मत तो और भी भ्रान्त है । उन्होंने कहा है कि "करुण आदि रसों में भी जो परम आनन्द होता है उसमें केवल सहृदयों का अनुभव ही प्रमाण है । यदि उनमें दुःख होता तो कोई भी उनके प्रेक्षण अध्ययन आदि में प्रवृत्त न होता वैसे होने पर रामायण आदि (अमर काव्य) दुःख के कारण बन जायेंगे ।"[1]

करुण और करुण विप्रलम्भ में होने वाली मृत्यु के अन्तर की ओर कविराज विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में संकेत किया है । उनके अनुसार करुण-विप्रलम्भ में रस का विच्छेद होने के कारण मरण का वर्णन नहीं करना चाहिये यदि उसका वर्णन आवश्यक हो तो उसे दो प्रकार से किया जा सकता है । एक तो वास्तविक मृत्यु का नहीं अपितु, मृतप्राय अवस्था का वर्णन होना चाहिए और दूसरे उसका वर्णन अभिलाषा के रूप में ही होना चाहिये (उसके व्यवहार रूप में परिणति का नहीं) । परिस्थितिवश यदि वास्तविक मृत्यु का वर्णन करना ही पड़े वहां शीघ्र ही मृत व्यक्ति के पुनरुज्जीवन का वर्णन कर देना चाहिए[2] ।

साहित्यदर्पणकार के पुनरुज्जीवन विषयक इस नियम के मूल में आनन्दवर्धन का यह कथन ही प्रतीत होता है कि शृङ्गार में मरण के पश्चात् शीघ्र ही पुनर्मिलन की सम्भावना उत्पन्न हो जाने पर मरण का उपनिबन्धन अधिक दोषयुक्त नहीं माना जा सकता है । मृत्यु के पश्चात् पुनः प्रत्यापत्ति का वर्णन इतनी अल्प अवधि

---

१ करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखं ।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ।।
किंच तेषु यदा दुःखं न को ऽपि स्यात्तदुन्मुखः ।
तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता ।।
—सा० द० ३।४,५

२ रसविच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते ।।
जातप्रायं तु तद्वाच्यं चेतसाकाङ्क्षितं तथा ।
वर्ण्यतेऽपि यदि प्रत्युज्जीवनं स्याददूरतः ।।
—सा० द० ३।१९३,१९४

में होना चाहिये जिससे सहृदयों की बुद्धि में रति का विच्छेद न हो सके और परिणाम-स्वरूप उनके हृदय के शृङ्गार की प्रतीति भी अविच्छिन्न न हो सके। उदाहरणार्थ -- रघुवंश में इन्दुमती के मर जाने पर जब उसके मृत शरीर को लेकर तरह-तरह के विलाप करते हैं वहां करुण रस का ही क्षेत्र है। किन्तु कुमारसम्भव महाकाव्य में शिवजी के द्वारा कामदेव के भस्म हो जाने पर जब रति शरीर त्यागने को तैयार हो जाती है उसी समय आकाशवाणी होती है --"हे कामदेव की प्रिये। तुम्हारा पति तुम्हारे लिये शीघ्र ही दुर्लभ नहीं रहेगा (अर्थात् - वह शीघ्र ही तुम्हें मिल जायेगा वह जिस लिये शंकर के नेत्र में शलभ की भांति जलकर भस्म हुआ है उसका कारण सुनो[2]। यहां से करुण-विप्रलम्भ ही होगा, क्योंकि रति के हृदय में कामदेव के प्रति आस्था बन जाती है कि वह उसे प्राप्त हो जायेगा।

उन्माद, अपस्मार और व्याधि भी विप्रलम्भ शृङ्गार के अनुभाव होते हैं परन्तु उनकी जो अत्यन्त कुत्सित दशा न हो उसको काव्य या नाटक में दिखलाना चाहिए यह प्राचीन आचार्यों का मत है। अभिनवगुप्त का कहना है कि उस प्रकार की अपने जीवन की निम्नात्मक दशा में तो उस देह के द्वारा (विषयों का) उपभोग भी जिसका आलम्बन है इस प्रकार की आस्थाबन्धात्मक रति का भी विच्छेद हो जाता है। इसलिये शृङ्गार का क्षेत्र भी वहां समाप्त हो जाता है।[1] अतएव यदि मरण

---

1 शृङ्गारे वा मरणस्यादीर्घकालप्रत्यापत्तिसम्भवे कदाचिदुपनिबन्धो नात्यन्तविरोधी। दीर्घकालप्रत्यापत्तौ तु तस्यान्तरा प्रवाहविच्छेद एवेत्येवंविधेति वृत्तोपनिबन्धनं रसबन्धप्रधानेन कविना परिहर्त्तव्यम्।

--ध्वन्या० ३।२० (वृत्ति)

2 कुसुमायुधपत्नि दुर्लभस्तव भर्ता न चिराद्भविष्यति।
शृणु येन स कर्मणा गतः शलभत्वं हरलोचनार्चिषि॥

-- कु० सं० ४।४०

वर्णन किया जाए तो मरण का वर्णन करना चाहिए जिससे शोक की स्थिति ही न आने पाये[1]।

<u>उदाहरणार्थ</u> -- 'गंगा और सरयू के संगम से बने हुये तीर्थ पर देहत्याग करने के कारण तुरन्त ही देवताओं की कोटि में सम्मिलित हो जाने से, पूर्व आकार से भी अधिक सौन्दर्य वाली (अप्सरारूपिणी) कान्ता इन्दुमती को प्राप्त करके (स्वर्ग के उद्यान) नन्दनवन के भीतर स्थित क्रीड़ा भवनों में (अज) फिर रमण करने लगे[2]।'

इसलिये सुकवि (कालिदास) ने यहाँ प्रकारान्तर से (देहत्याग का वर्णन करके) भी मरण नहीं कहा (अपितु अमरत्व की प्राप्ति ही कथन किया है) और देह त्याग से होने वाली शोकात्मक प्रतीति के विघ्नभूत स्थान (अर्थात् स्थायित्व) के परिहार करने के लिये तृतीय चरण में (इन्दुमती रूप) विभाव की प्राप्ति का वर्णन कर दिया है और चतुर्थ चरण में पुनः शब्द से फिर वही (सम्भोग रूप) रति प्रतिपादित किया है। इस प्रकार अचिर काल प्रत्यापत्ति रूप में ही मरण का वर्णन हो सकता है।

दूसरे (व्याख्याकार) तो (इस विषय में) यह कहते हैं कि (विप्रलम्भ शृङ्गार के व्यभिचारिभावों में जो मरण शब्द आया है उस) मरण से जीवन

---

१ उन्मादापस्मारव्याधीनां या नात्यन्तं कुत्सिता दशा सा काव्ये प्रयोगे च वर्णनीया। कुत्सिता तु सम्भवेऽपि नेति वृद्धाः। वयन्तु ब्रूमः तादृश्यां दशायां स्वकीयचित्त-निर्वृत्यात्मिकायां तद्देहोपभोगसाररत्यात्मकत्वाभावादेवाऽपि विप्रलम्भता नैवेति। तस्मात्स्वेव मरणमचिरकालप्रत्यापत्तिमयमत्र मन्तव्यम्। येन शोकोऽवस्थानमेव न लभते।

— अ० भा० पृ० ५५५

२ तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वो-
देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः।
पूर्वाकाराधिकचतुरया संगतः कान्तयासौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु॥

— रघुवंश ८।९५

की समाप्ति अभिप्रेत नहीं है अपितु इससे प्राणत्यागकांक्षा रूप चैतन्यावस्था ही अभिप्रेत है । जो सम्बन्ध और अवसर के अनुरूप व्यभिचारिभाव रूप से समझनी चाहिए । [अर्थात् प्राणत्याग करने के लिये उद्यत हो जाने रूप मरण का ही वर्णन विप्रलम्भ में किया जा सकता है] इस प्रकार के उदाहरण बहुत मिल सकते हैं[a] ।

भानुदत्त मिश्र ने स्थायीभाव रति एवं शोक को लेकर दोनों का अन्तर स्पष्ट कर दिया है । इष्टजन के वियोग से उत्पन्न रति से अयुक्त ऐसा जो अपरिपूर्ण मनोविकार है वह शोक है[1] । शोक लक्षण में जो रतिपद है सो इष्ट वस्तु-समीहाजन्य मनोविकृतिरूप है ऐसी जो रति है उससे युक्तत्व शोकरूप मनोविकृति को नहीं है क्योंकि शोकस्थल में इष्ट वस्तु की इच्छा नहीं होती है इस हेतु शोक को रत्यनालिंगित्व है तो असम्भव दोष नहीं होगा इसी हेतु से जहां मृत पुरुष में जीविताशा है वहां रति तो प्रधान है शोक अप्रधान है इस हेतु शोक में रत्यनालिंगित्व नहीं है इस हेतु वहां विप्रलम्भ शृङ्गार है । और जहां जीवन में मृतत्व निश्चय है वहां शोकरूप विकार पूर्वोक्तरति से अनालिंगित है इस हेतु वहां करुण का ही निर्वाह होगा[2]। इस हेतु कुमारसंभव ग्रन्थ में रति का और कादम्बरी ग्रन्थ में महाश्वेता का और रघुवंश में अज का जो प्रलाप है उसमें करुण ही रस है[3] । कुमारसंभवादि ग्रन्थ में रत्यादि के वृत्तान्त में जीवनाभाव निश्चय होने से इष्ट वस्तु समीहा वहां नहीं रहती है और वहां

---

१ इष्टविश्लेषेण रत्यनालिंगित: परिमितो मनोविकार: शोक: ।

-- र० तं०, पृ० १८

२ न चेष्टविश्लेषजनितविप्रलम्भशृङ्गारस्य करुणरसत्वापत्ति: ।।

-- वही पृ० १८

३ कुमारसम्भवे रत्या:, कादम्बर्यां महाश्वेताया:,
रघुवंशेऽजस्य, प्रलापे करुण एव रस: ।।

-- वही, पृ० १८

मृतपुरुष में जीविताशा है वहां तो शृङ्गार ही रस है[1]।

करुण विप्रलम्भ के विषय में अपना मत देते हुये शारदातनय कहते हैं कि कुछ आचार्यों ने वियोग का एक प्रकार मरण भी माना है किन्तु यह सम्भव नहीं क्योंकि (नायक-नायिका में) एक के मरने पर दूसरा रोता है वह तो शोक ही हुआ[2]। (वहां रति कहां) हां यदि मरण में प्रत्युज्जीवन की आकांक्षा बनी रहे तो वह वियोग के दुःखों के समान ही दुःखों वाला माना जाता है[3]। अतः वियोग में ही उसकी गणना हो सकती है।

निष्कर्ष रूप में हम यही कह सकते हैं कि लोकान्तरगमन और पुनरुज्जीवन के अतिरिक्त भी कुछ विप्रलम्भ के प्रसंग ऐसे भी हैं जिन्हें न पूर्वराग में समाहित किया जा सकता है, न मान में, न प्रवास में और न विरह में। जो विरह-व्यथा लम्बे अरसे तक-आजीवन भी रह सकती है, उसे क्या कहेंगे ? जहां प्रिय जीवित है, दोनों तरफ स्नेह भी भरपूर है, प्रिय मिलन की आशा नष्ट हो गयी है, पर मिलन की भौतिक संभावना विलुप्त नहीं हुई है वह कौन-सा विप्रलम्भ होगा ? गौतम के निर्वाण के लिये महाभिनिष्क्रमण के बाद यशोधरा के आजीवन विरह को क्या कहेंगे ? क्या वह प्रवास है ? उसकी समस्त भावनायें तथा परिस्थितियां प्रवास में समाहित नहीं हो सकतीं। पर यह भी सही है कि करुण विप्रलम्भ का उक्त लक्षण ऐसे स्थलों पर घटित नहीं हो सकता किन्तु ध्यान से देखा जाए तो यह आवश्यक है कि उक्त लक्षण को कुछ विस्तार दे दिया जाए जिससे आज के भी भौतिक यथार्थ प्रसंगों को भी अपनी सीमा में समाहित कर सके और अपने को पूर्ण बना सके।

---

१ तदत्र जायानिश्चयाद्विच्छिन्नप्रत्युज्जीवाशाया अभावात् ।यत्र च मृते जीविताशा तत्र शृङ्गार एव रसः, नायकस्य ग्राह [illegible] रत्याशाया अनुप्रतिबन्धकत्वात् ।
-- वही पृ० १६

२ वियोगभेदो मरणमिति केचिन्न तद्भवेत् ।।
मृते त्वन्यत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः । -- भा० प्र० ४।८६

३ मरणं यदि सापेक्षं प्रत्युज्जीवनकाङ्क्षया ।
तद्भवेत् वियोगोत्थदुःखसाधारणात्मकम् ।।
-- वही ४।८७

प्रयोग पक्ष

महाकाव्यों में विप्रलम्भ शृङ्गार

प्रयोग की दृष्टि से --

तृतीय परिच्छेद

रामकथा पर धार्मिक मतान्तर

रघुवंश के अष्टम सर्ग का अज इन्दुमति का विरह करुण विप्रलम्भ शृङ्गार के रूप में प्रसिद्ध है, किन्तु इन्दुमती के शरीर छोड़ देने पर अज का विलाप करुण रस की श्रेणी में आता है, क्योंकि यदि शोक स्थिर हो जाता है तो विप्रलम्भ शृङ्गार की सीमा समाप्त हो जाती है और करुणरस की सीमा आरम्भ हो जाती है। मृत्यु के पूर्व वियोग में प्रेमियों की कोई भी अवस्था हो जाये वह विप्रलम्भ शृङ्गार के अन्तर्गत रहती है। 'रस का विच्छेद होने के कारण मरण का वर्णन नहीं करना चाहिये केवल मरण की सम्भावना मात्र वर्णन करना चाहिये या फिर इस प्रकार वर्णन करना चाहिये कि मरण के बाद पुनर्मिलन की स्थिति आ जाये।'[1] उदाहरणार्थ -- गंगा और सरयु के जलों के संगम से बने हुये तीर्थ पर देह त्याग करने के कारण तुरन्त ही देवताओं की कोटि में सम्मिलित हो जाने से, पूर्व आकार से भी अधिक सौन्दर्यशाली कान्ता इन्दुमती को प्राप्त करके नन्दन वन के भीतर स्थित क्रीडाभवनों में अज फिर रमण करने लगे[2]।

इसलिये सुकवि कालिदास ने यहाँ प्रकारान्तर से देहत्याग का वर्णन कर भी मरण नहीं कहा अपितु अमरत्व की प्राप्ति ही कथन किया है। और देहत्याग से होने वाली शोकात्मक प्रतीति के विश्रान्ति स्थान अर्थात् स्थायित्व का परिहार करने के लिये तृतीय चरण में (इन्दुमती रूप) विभाव की प्राप्ति का वर्णन कर दिया है और चतुर्थ चरण में पुनः शब्द से फिर वही सम्भोग रूप अर्थ प्रतिपादित किया है। इस प्रकार अचिर काल प्रत्यापत्ति रूप में ही मरण का वर्णन हो सकता है।

---

१ रसविच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते ।

-- सा० द० ३।१९२

२ तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वोर्देह--

त्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः ।

पूर्वाकाराधिकतररुचा संगतः कान्तयासौ

लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ॥

--रघु० ८।९५

प्रस्तुत श्लोक में इन्दुमती आलम्बन, उद्दीपन विभाव-स्वर्ग के उद्यान, नन्दन वन, क्रीडाभवन, और अज का आक्रोश, दुःख, स्मृति, व्याकुलता एवं विलाप अनुभाव एवं संचारीभाव के योग से रति स्थायी भाव विप्रलम्भ शृङ्गार का हेतु है ।

भगवती सरस्वती के अनुग्रह से पवित्र वाणी वाले कालिदास ने रघुवंश में सम्भोग और विप्रलम्भ के मिश्रित रसास्वादन के लिये लङ्का विजय के बाद विमान से लौटते समय उल्टे क्रम से अर्थात् बाद में हुयी घटनाओं का पहिले वर्णन करते हुये रामचन्द्र जी ने अपने कर्म और पूर्वावस्था को प्रस्तुत किया है । अतः रघुवंश विप्रलम्भ शृङ्गार से परिपुष्ट सम्भोग शृङ्गार का रमणीय चित्र है जिसकी नवीनता क्षण-क्षण परिवर्धित होती है । जो व्यक्ति जिस अवस्था में उपभुक्त रहता है वह उसके विपरीत अवस्थान्तर के प्रति हार्दिक अनुराग रखता है और उसकी अभिपुष्टि के लिये लालायित और आकुल रहता है यही कारण है कि रामचन्द्र जी को समस्त चराचर में रति राग के अनुपम संयोग के दर्शन होते हैं ।

सीता जी को रावण ने हरण कर लिया है और रामचन्द्र जी सीता जी के वियोग में विक्षिप्त होकर भिन्न-भिन्न स्थानों में सीता को ढूंढा, वही स्थानों को सीता जी को दिखाकर अपनी विरह व्यथा व्यक्त कर रहे हैं । रामचन्द्र जी ने बिछुये को सीता जी से अलग हो जाने से दुःखी देखा । अतः वह बिछुये के माध्यम से अपने वियोग व्यथा प्रकट करते हैं[1] । रामचन्द्र जी अपने विरह में प्रकृति को प्रतिबिम्बित देखते हैं--स्वयं वियोगी राम को घने वाली डालियां झुककर सीता जी के मार्ग का पता बतला देती हैं[2] । हरिण भी आंख के इशारे से वियोगी राम

---

१ सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ॥
-- रघु० १३।२३

२ त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे ।
अदर्शयन्वक्तुमशक्नुवत्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ॥
-- वही १३ । २४

उठती है। वर्षा में खिली हुई लाल कलियां सीता जी के लाल हुये नेत्रों का स्मरण दिला रही हैं[1]।

नायिका के अभाव में नायक प्रत्येक वस्तु में चाहे वह जड़ हो या चेतन सभी में प्रिया से साम्य करता है। चकवा चकवी के जोड़े को देखकर स्वयं रामचन्द्र जी प्रिया से मिलने के दिन गिनने लगते हैं[2]। प्रिया के वियोग में रामचन्द्र जी अशोकलता को ही सीता मानकर उसका आलिङ्गन करने लगते हैं[3]।

रामचन्द्र जी पञ्चवटी को देखकर सीता जी के साथ पूर्वराग की अवस्थाओं को स्वयं स्मरण करते हुये सीता जी को भी स्मरण करा रहे हैं[4]। विरह में काम पीड़ित पुरुष स्त्री की कुछ विशेष अवस्थायें होती हैं जिसे साहित्य शास्त्रियों ने निद्राच्छेद, तनुता, विषयनिवृत्ति, त्रपानाश, उन्माद, मूर्च्छा, मरण आदि दस रूपों में विभाजित किया है। साहित्य शास्त्र में दस कामदशायें प्रसिद्ध हैं, जो नायक-नायिका को निरन्तर पीड़ित करती हैं। रामचन्द्र जी को अपने पूर्व के वो दिन स्मरण आ रहे हैं जब एकान्त में बेंत की झोपड़ी में सीता जी की गोद में सिर रखकर सोते थे और गोदावरी की वायु उनकी थकावट मिटाया करता था[5]।

---

१ आसारसिक्तक्षितिबाष्पयोगान्मामक्षिणोद्यत्र विभिन्नकोशैः ।
बिडम्ब्यमाना नवकन्दलैस्ते विवाहधूमारुणलोचनश्रीः ॥
--रघु० १३।२९

२ अत्रावियुक्तानि रथाङ्गनाम्नामन्योन्यदत्तोत्पलकेसराणि ।
द्वन्द्वानि दूरान्तरवर्तिना ते मया प्रिये सस्पृहमीक्षितानि ॥
-- वही १३।३१

३ इमां तटाशोकलतां च तन्वीं स्तनाभिरामस्तबकाभिनम्राम् ।
त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या परिरब्धुकामः सौमित्रिणा साश्रुरहं निषिद्धः ॥
-- वही १३।३२

४ एषा त्वया पेशलमध्ययापि घटाम्बुसंवर्धितबालचूता ।
आनन्दयत्युन्मुखकृष्णसारा दृष्टा चिरात्पञ्चवटी मनो मे ॥ --रघु० १३।३४

५ अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदः ।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः ॥ --वही १३।३५

राम-सीता के पूर्वानुराग सम्बन्धित उपर्युक्त श्लोकों में रामचन्द्र जी और सीता आलम्बन है, एकान्त स्थान, मधु, चाँदनी, वर्षा एवं प्रकृति उद्दीपन विभाव है, रामचन्द्र जी का पागलपन, विरह-व्याकुल राम का सीता से वार्तालाप, पलकें गीली होना आदि अनुभाव है एवं स्मृति, दुःख, ग्लानि, अश्रु, उन्माद, हर्ष, दीनता संचारी भाव के योग से रति स्थायीभाव है ।

कालिदास के रघुवंश का चतुर्दश सर्ग का साम्य भवभूति के उत्तर-रामचरित से मिलता है । उन्होंने भी राम सीता के संयोग, वियोग की व्यापक प्रतीति करवाई है । चित्रवीथिका में जनस्थान का चित्र देखकर राम को सीता साहचर्य की यादें हरी हो जाती हैं । यह वही स्थल है जहाँ राम और सीता गाल से गाल सटाकर, एक दूसरे की बाहों से बद्ध होकर, बिना किसी सिर-पैर की बातें धीरे-धीरे रात भर किया करते थे । बातों ही बातों में रात बीत जाती थी किन्तु बातों का कभी अन्त नहीं होता था । स्मृति के गाढ़े अनुलेप से आर्द्र-प्रणय का एक अविस्मरणीय चित्र देखें --

'किमपि किमपि मन्दं मन्दमासक्तियोगा --
दविरलित कपोल जल्पतोरक्रमेण ।
अशिथिल परिरम्भव्यापृतैकदोष्णो -
रविदित गतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत् ।।[1]

रघुवंश का चतुर्दश सर्ग भी विप्रलम्भ शृंगार से शून्य नहीं है क्योंकि कालिदास रससिद्ध कवि है तो उनकी दृष्टि से विप्रलम्भ कहाँ से अछूता रह सकता है । रामचन्द्र जी दूत के मुख से कि रावण के घर रहने वाली सीता को आपने ग्रहण किया है, यह लोग अच्छा नहीं मानते हैं -- इतना सुनते ही वह निष्कपट सीता को अपने राज्य से निकालने की प्रतिज्ञा कर लेते हैं और लक्ष्मण जी से तपोवन में घुमाने के बहाने सीता को वाल्मीकि ऋषि के आश्रम में छोड़ आने को

---

१ उ० रा० च० - १।२७

करते हैं। लक्ष्मण जी वाल्मीकि के आश्रम के समीप पहुंच कर सीता जी को राजा राम की आज्ञा को सुनाते हैं। कालिदास ने अपनी लेखनी के द्वारा प्रियतमा को प्रवासी बना दिया। सीता जी अपने प्रिय का प्रवास कैसे सहन कर सकती हैं, अत: वह उसी प्रकार पृथ्वी पर गिर पड़ी[1] जिस प्रकार तूफान से लता के फूल झड़ जाते हैं और मुरझाकर पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। वह इसलिये अत्यधिक चिन्तित हैं कि बिना कारण पति ने उनका त्याग क्यों कर दिया है[2]।

प्रवास में अङ्गों में असौष्ठव, सन्ताप, पाण्डुरता, कृशता, अरुचि, अधीरता, अस्थिरता, तन्मयता, उन्माद, मूर्च्छा और मरण ये दस अवस्थायें नायक-नायिका में होती हैं। सीता जी अकस्मात् विरह के कारण मूर्च्छित हो जाती है[3]। और अपने भाग्य को धिक्कारने लगती है[4]। लक्ष्मण जी के चले जाने पर विपत्ति के भार से व्याकुल होकर सीता जी, डरी हुई कुररी के समान दाढ़ मार कर रोने लगती हैं[5]।

---

१ ततोऽभिषङ्गानिलविप्रविद्धा प्रभ्रश्यमानाभरणप्रसूना ।
स्वमूर्तिलाभप्रकृतिं धरित्रीं लतेव सीता सहसा जगाम ॥
--रघु० १४।५४

२ इक्ष्वाकुवंशप्रभव: कथं त्वां त्यजेदकस्मात्पतिरार्यवृत्त: ।
इति क्षिति: संशयितेव तस्यै ददौ प्रवेशं जननी न तावत् ॥
-- वही १४।५५

३ सा लुप्तसंज्ञा न विवेद दु:खं प्रत्यागतासु: समतप्यतान्त: ।
तस्या: सुमित्रात्मजयत्नलब्धो मोहादभूत्कष्टतर: प्रबोध: ॥
-- रघु० १४।५६

४ न चावदद्भर्तुरवर्णमार्या निराकरिष्णोर्वृजिनादृतेऽपि ।
आत्मानमेव स्थिरदु:खभाजं पुन: पुनर्दुष्कृतिनं निनिन्द ॥ -- वही० १४।५७

५ तथेति तस्या: प्रतिगृह्य वाचं रामानुजे दृष्टिपथं व्यतीते
सा मुक्तकण्ठं व्यसनातिभारात्चक्रन्द विग्ना कुररीव भूय: ॥
-- वही १४।६८

मानव मन अभिलाषाओं का आकर है । अपने प्रिय के प्रति मनोभाव से विमुक्त अभिलाषा चिर तक बनी रहने से स्थाई हो जाती है । प्रिय के विरह में उनका रोदन इतना हृदय द्रावक था कि मोरों ने नाचना बन्द कर दिया, वृक्ष पुष्प के आंसू गिराने लगे और हरिणियों ने मुंह में भरी हुयी घास का कौर गिरा दिया । सीता जी के दुःख से दुःखी होकर सारा जंगल रोने लगा[1] ।

कविकुलगुरु ने नायक-नायिका दोनों पक्षों में शास्त्रीय परम्परा के अनुसार प्रवास का पूर्ण पोषण करते हुये विप्रलम्भ शृङ्गार को ऐसा सुसज्जित, स्पन्दनमय तथा प्राण-स्फूर्त रूप दिया है जो अन्यत्र दुर्लभ है । इधर सीता जी की प्रियतम के विरह में विक्षिप्त अवस्था दिखलायी है और फिर लक्ष्मण जी के अयोध्या आकर सीता जी की स्थिति वर्णन करने पर एक ही श्लोक द्वारा रामचन्द्र जी का प्रवासी प्रियतमा के प्रति अनुराग दिखलाते हैं --'ओस बरसाने वाले पूस के चन्द्रमा के समान राम की आंखों से टपटप आंसू गिरने लगे क्योंकि उन्होंने सीता जी को अपनी इच्छा से नहीं वरन् कलङ्क के डर से छोड़ा था ।'[2]

उपर्युक्त श्लोकों में नायक-नायिका कार्यवश एक दूसरे से अलग हो गये हैं अतः कार्यवश प्रवास विप्रलम्भ शृङ्गार है । विरह ज्वर से सीता को संताप है । निःश्वास, रोदन, भूमिपतन, दुर्बलता, अश्रु गिरना आदि प्रवास के ही कारण हुआ है ।

---

१ नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान्विजहुर्हरिण्यः ।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद्रुदितं वनेऽपि ॥
-- रघु० १४। ६९

२ बभूव रामः सहसा सबाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः ।
कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः ॥
-- रघु० १४ ।८४

डा० देवीदत्त जी के शब्दों में "राम यद्यपि विष्णु के अवतार हैं (रघु० ११।८५) दुष्टों का दलन करने के लिये अवतरित हुये हैं, पर कालिदास के हाथ से उनका मानवीय रूप ही अधिक निखरता है । वे सीताहरण के बाद उनके वियोग में एक सामान्य मानव की भांति वन में इधर-उधर भटकते फिरते हैं । आंसू बहा-बहाकर लता वृक्षों से उसके बारे में पूछते फिरते हैं (रघु० १३।२४) अथवा परित्याग के बाद लक्ष्मण के मुख से सीता की कारुणिक दशा का वृत्तान्त सुनकर स्वयं भी रोने लगते हैं ।[1]

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कालिदास का विप्रलम्भ श्रृङ्गार उच्चकोटि का है, जहां नायिका सीता एक तीव्र व्यथा से पीड़ित होती हुयी दर्शकों या पाठकों के हृदय को उनकी संवेदना और सहानुभूति प्राप्त करती है । वहीं तो द्रष्टा और श्रोता काव्यरस का आस्वादन प्राप्त करते हैं, जिसे न सुख कहा जा सकता और न दुःख । वह अवस्था वचनातीत है, सहृदय-हृदय प्रमाण है । तात्पर्य यह निकला कि काव्य की आत्मा भोग-विलास तथा राग-द्वेष के प्रदर्शनात्मक श्रृङ्गार और वीररसों में ही नहीं, किन्तु मनुष्य समाज में अति-व्याप्त दुःख की प्रेरणा से उत्पन्न करुणाभाव में है ।

भट्टिकाव्य --

महाकवि भट्टि की अनुपम लेखनी द्वारा विरचित भट्टिकाव्य या रावणवध संस्कृत साहित्य सरोवर का उत्कृष्ट पुष्प है । भट्टि काव्य की गणना उन काव्यों में की जाती है जिन्हें हम शास्त्र काव्य के नाम से पुकारते हैं । महाकवि भट्टि ने अपने इस काव्य को काव्य की दृष्टि से नहीं अपितु व्याकरण-शास्त्र के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है क्योंकि इन्होंने ग्रन्थ की समाप्ति पर अपनी अहमन्यता और

---

१ कालिदास की कला और संस्कृति - पृ० २१६

व्याकरण साहित्य के सम्बन्ध में दो श्लोक व्यक्त किये हैं :--

दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम् ।
हस्तामर्ष इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते ॥
-- २२ ।३३

सामान्य व्यक्तियों की बुद्धि में इस काव्य का अर्थ अवगाहित होना संभव नहीं --

व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामलम् ।
हता दुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत्प्रियतया मया ॥
-- २२।३३

शब्दशास्त्र के प्रतिपादक महान ग्रन्थ होने के साथ ही रावण-वध काव्य की दृष्टि से भी महान है । यद्यपि इसे व्याख्यागम्य रूप देने के प्रयास में काव्य-तत्व पराक्रान्त हो गया है । तथापि इसकी कमनीयता उत्कृष्ट है । कवि ने इसमें रामायण की रामकथा का २२ सर्गों में काव्यात्मक प्रतिपादन किया है । मल्लिनाथ के अनुसार --

प्रधानमिह शृङ्गारकरुणादिभिरंगवान् ।
वीरो रसो महावीरो नायको रघुनायकः ॥
-- व्याख्यानपीठिका, पृ० ७

वीर ही यहां पर अंगी रस है । शृङ्गार, करुण, बीभत्स, अद्भुत आदि अंग रूप में प्रतिपादित है । काव्य के नायक दाशरथि राम है । प्रति-नायक असुरराज रावण है । लक्ष्मण, सुग्रीव, हनुमान आदि नायक के एवं कुम्भकर्ण मेघनाद मारीचादि प्रतिनायक के सहायक हैं । रावण का वध ही काव्य का फल है । सीता का अपहरण काव्य का वह बीज है जिस पर काव्य आधारित है ।

सीता के हरण हो जाने पर रामचन्द्र जी की जो असहायावस्था दर्शनीय है । राम का रोदन पत्थरों को भी रुलाने वाला है । राम सीता किसी

विरह में कामपीड़ित पुरुष-स्त्री की कुछ विशेष अवस्थायें होती जिन्हें साहित्य-शास्त्र में स्मर दशायें कहते हैं। सीता के स्नान के स्थानों को देखकर मूर्छित होना आदि अनुभाव पाये जाते हैं।

उपर्युक्त श्लोकों में राम आश्रय है सीता आलम्बन है, पर्णकुटी को सूनी देखना, वन, उपवन आदि उद्दीपन विभाव है, अश्रु, निःश्वास, रोदन, मूर्छा अनुभाव हैं और चिन्ता, वितर्क, धृति संचारी भाव है एवं रति स्थायीभाव है।

सीता के समीप न रहने पर विरह विदग्ध राम की पलकों में सीता की प्यारी छवि झलकाती रहती है उनके मन, वचन निर्जीव से हो जाते हैं।

कुछ आलोचकों ने भट्टिकाव्य पर कृत्रिमता और आडम्बर की अधिकता का दोषारोपण किया है। पर उनके काव्य के विशेष प्रयोजन को ध्यान में रखते हुये यह कहना अनुचित न होगा कि उसमें वास्तविक काव्य के गुणों की कमी नहीं है। राम और लक्ष्मण, लक्ष्मण और सीता के प्रभावशाली संवाद का विरह सम्बन्धित समुज्ज्वल उदाहरण उत्कृष्ट कोटि के हैं जो अन्य संस्कृत महाकाव्यों से भट्टि-काव्य को पृथक् करते हैं।

<u>जानकीहरणम्</u> --

जानकीहरण कुमारदास की एकमात्र रचना है। इसमें २० सर्ग हैं। यह रामायणी कथा को लेकर लिखा गया है। इस महाकाव्य में विप्रलम्भ शृङ्गार का चित्रण शास्त्रीय ढंग से पाया जाता है। विप्रलम्भ शृङ्गार के बिना काव्य प्रभावशाली नहीं होता। रामविजय के साथ महाकाव्य की समाप्ति होने के कारण वीररस की प्रधानता है क्योंकि राम का लक्ष्य रावण-विजय है।

---

१ इह सा व्यलिखद् नखैः स्नान्तीडाऽभ्यषिचद् जलैः ।
इहाऽहं दृष्टुमागत्य तां, स्मरन्तीव मुमोह च: ॥
-- भ० का ८।२१

विरह तो एक कुम्भीपाक यन्त्र है, जिसमें स्नेह भीतर ही भीतर पककर प्रेम रसायन बन जाता है। श्रवणानुराग, आसक्ति होने के बाद तो मन में संकल्प (मिलने की इच्छा) तो जागृत हो ही जाता है। राजा जनक के मुनि से कहने पर यह आपकी बहू आपके अन्तःपुर में आयेगी, अतः दोनों - राम और सीता को अब विवाह से पूर्व के दिन कटने मुश्किल हो गये हैं। विरहाग्नि, प्रेमाग्नि इतनी तीव्र हो गयी कि कुच का भार, कटि एवं नितम्ब से सीता जी चल नहीं पा रही थी अब तो रामचन्द्र जी के कारण और भी नहीं चल पा रही हैं[1]। परिवार वर्ग से बचने के बहाने तिरछी चितवन से राम पर प्रहार करती हैं[2]। अतः राम सीता के हृदय में सम्यक् प्रवेश पा गये हैं[3]।

अभी तक तो सीता जी साक्षात् राम के दर्शन का आनन्द ले रही थीं लेकिन अब राम सामने से चले गये तो उनके हृदय में विरहाग्नि फूट पड़ती है। विरहाग्नि तो कोमल,मृदुल एवं कठोर भाव का आगार है जिसके साम्राज्य की अधीनता में संसार की प्रत्येक वस्तु दुःख दिखायी पड़ती है। उनके नेत्रों से अनायास ही अश्रु निकल पड़ते हैं[4]। सीता का राम के प्रति अटूट स्नेह देखकर कंकण भी क्रोध से कहाँ

----

१ कुचभारेण कृशमध्यस्य स्थाम्ना तथा मन्थरविक्रमायाः ।
आसीद् च तस्याः गतिमन्थरत्वेऽसौ राजपुत्रोऽपि निमित्तहेतुः ॥
-- जानकी० ८।२०

२ अनुव्रजन्तं परिवारवर्गं प्रच्छादयन्ती किल नाम किञ्चित् ।
तिर्यग्विवृत्ताननचन्द्रबिम्बा रामं कटाक्षैर्निरपातयत् ॥
-- वही ८। २१

३ दूरेऽपि दैवेन वियोगभाजः प्रवर्धिताधिः स्फुरतीति भीतः ।
अन्तर्गतायैव हृदन्तरालं मुमोच तस्या हृदयं न रामः ॥ -- वही ८।२३

४ याते च रामे नयनाभिरामे दृष्ट्वा दिशः किं परिशून्यमध्याः ।
सुतीव्रदृग्नापतलोचनाया विलोचने नैच्छत् रुरोध ॥
-- वही ८।२४

से भर गया[1]। सीता ने अपने विरह को बहुत छिपाने की कोशिश की लेकिन उनके लाल-लाल नेत्रों से सखियां जान गयीं कि सीता के हृदय की शोकाग्नि अब बाहर ही निकलने वाली है[2]।

सीता जी में जो काम दशायें पूर्वराग से सम्बन्धित पायी जाती हैं वह मर्यादित है। उनमें अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति और गुण कथन ही पाया जाता है। प्राप्ति के उपायादि के सोच का नाम चिन्ता है[3]। उन्होंने प्राप्ति के लिये कोई उपाय नहीं किये लेकिन मन ही मन में राम के हृदय में रहने के कारण अथवा राम को हृदय में रखने के कारण दुर्बल हो गयी हैं[4]।

विरह वेला में ही तो मानव के सच्चे प्रेम के गहन गम्भीर रहस्यों से परिचय होता है। विरहावस्था में वासना और कामना की मांसलीय- शरीर तृष्णा प्रीति और आराधना की दिव्य पावन मन: साधना में परिणत हो जाती है।

---

१ · कृतेऽपि पाणिग्रहणे मनोज्ञं बाला परभाविवरागबुद्धिः ।
नाठेति लज्जा वद्धं कृशाङ्ग्या स्वयं रोमिण यथा कराग्रम् ॥
-- जानकी० ८।२५

२ सन्तापवाष्पाकुलितांपि सन्ताङ्ग्याः कामाग्निः सेदपिशोपितेन ।
नेत्रद्वयेन वहिः प्रसृतस्यालाक्षिः संविविदे सखीभिः ॥
-- वही ८। २६

३ प्राप्त्युपायादिचिन्तनम् ।
-- सा० द० ३। १९१

४ बाला तु सा सहनमङ्गनाग्निशल्योपिरं सम्बुद्धये निवासात् ।
हस्तं स्वकीये हृदि सं निधिच्छसुगुप्ता सुरत्नं कार्श्यं गता तु ॥
-- जानकी० ८। २७

पूर्वराग के चित्रण में कुमारदास ने राम और सीता दोनों का आकर्षण एक दूसरे के प्रति दिखलाया है। विरह की तड़पन तो पहले नायिका में ही दिखलायी है। सीताराम का प्रेम तो बाहरी चमक दमक से तो इतना अधिक नहीं है किन्तु हृदय से कभी दूर होने वाला नहीं है, अतः यह नीली राग के अन्तर्गत आयेगा। विश्वनाथ कविराज ने तो उदाहरण स्वरूप कहा भी है जैसे - भगवान श्री रामचन्द्र जी और सीता देवी का[1]।

जानकीहरण महाकाव्य विप्रलम्भ शृङ्गार से परिपुष्ट सम्भोग शृङ्गार का रमणीय चित्र है जिसकी मनोहरता क्षण-क्षण परिवर्तित होती है। रावण सीता को हरण कर गया था लेकिन वह अन्तः चक्षु से केवल राम को देखती, समस्त चराचर में उन्हें राम ही दिखायी पड़ते हैं। रावण विजय के पश्चात राम को देखने के लिये सीता भी जाती हैं उस समय राम विरह के कारण उनकी कृशकायावस्था कितनी कारुणिक है -- पीला शरीर, धूलि धूसरित केश, आंखों से अश्रु की धारा निकली हुयी ऐसी सीता को देखकर राम स्वयं शोक से भर गये और उनके हृदय से आनन्द निकल गया[2]।

इस श्लोक से यह स्पष्ट हो गया कि दोनों के हृदय में विरह की तड़पन है। दोनों में पातिव्रत्य का उचित गुण है। सीता अपने प्रिय पति धर्म को निभा रही है। किन्तु चिर प्रवास के कारण उनकी यह अवस्था होना स्वाभाविक ही है।

---

१ न चातिशोभते यन्नापैति प्रेम मनोगतम् ।
तन्नीलीरागमाख्यातं यथा श्रीरामसीतयोः ॥
-- सा० द० ३। १९६

२ विपाण्डुनी धूसरवेणिरोधिनः कर्णं दधत्या मधुरोपिताङ्गुलैः ।
तया मुखः स्वान्तनुपातिता रविः प्रियस्य चक्रे गतबन्धुतारया ॥
-- जानकी० १६।९६

यह तो पहले ही कह चुके हैं कि कुमारदास पर कालिदास की पूर्ण छाप है । रघुवंश में कालिदास ने तेरहवें सर्ग में लंका विजय के पश्चात् विमान से अयोध्या लौटते समय बाद में घटी घटनाओं का पहले वर्णन करते हुये रामचन्द्र जी ने अपने कर्म और पूर्वावस्था का वर्णन किया जो संयोग और विप्रलम्भ की व्यामिश्र प्रतीति कराता है । जानकीहरण महाकाव्य में भी कवि कुमारदास ने भी बीसवें सर्ग में उसी प्रकार उल्टे क्रम से विमान से लौटते समय संयोग और विप्रलम्भ के मिश्रित रसास्वादन के लिये रामचन्द्र जी ने अपने कर्म और पूर्वावस्था का चित्रण किया है ।

विमान में ही राम सीता की चोटी को जो चिर प्रवास के कारण जिसकी कान्ति मलिन हो गयी थी ऐसा देखकर उनके नेत्रों से जल निकल आये । यह राम का सीता के प्रति हार्दिक अनुराग को सूचित कर रहा है । वह सीता को धन्य समझ रहे हैं जिसने असह्य कष्ट को सहकर भी अपने गौरव को निष्कलंकित रक्खा,[1] ऐसी नारी पुण्य लोगों को ही प्राप्त होती है, राम को ऐसी पतिव्रता पत्नी पाने के सौभाग्य पर गर्व है[2] । कालिदास ने तो, कुटी, समुद्र, पुरी सभी के वर्णन के साथ ही साथ राम के मुख से सीता के लिये विरह की तपन का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है किन्तु ये तो समुद्र, पहाड़ आदि के वर्णन में निमग्न है केवल एक ही श्लोक में अपनी पुरानी बातों का स्मरण करते हुये सीता जी से कहते हैं -- 'हे प्रिये ! क्या तुम्हें स्मरण है कि रात्रि के समय, रति के श्रम के बाद, गोदावरी के तट पर, बालू रेत में जब चांदनी हम लोगों पर पड़ रही थी, हम लोग स्नेहालाप करते घूम रहे थे ।[3]

---

१ अनेन रामाकृतिरप्यमोघं सहिष्यते नाकृतपुण्यकर्मणा ।
इति स्वयं चिन्तयतः पदे पदे मम स्फुरत्यात्मनि भूरि गौरवम् ।।
-- जानकी० २०।४

२ साध्वीं त्वां प्राप्य विलिप्सतः प्रिये पतिव्रतानामभिपूजितामिमाम् ।
अहं भवत्या सुकृती महीतले महामुनिः स्वर्गमिवाश्रयामि ।।
-- वही २०।५

३ यथानुभूतं निशि चन्द्ररश्मिभिः निषेव्यमाणौ सुरतश्रमान्तरे
प्रियेऽभिजानासि मनोज्ञसैकते तटे सरित्याः स्मरन्त सं...
-- वही २०।३२

कवि कुमारदास ने अपनी लेखनी द्वारा विप्रलम्भ शृङ्गार का जो भी चित्रण किया है वह संस्कृत साहित्य में गौरवान्वित है । कविशेखर राजशेखर ने जानकीहरण के कर्ता कुमारदास की प्रबल प्रशंसा की है --

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति ।
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमौ ॥

इसका तात्पर्य यह है कि रघुवंश (काव्य तथा सूर्यवंश) के होते यदि किसी का सामर्थ्य जानकीहरण (काव्यग्रन्थ तथा सीता का हरण करने का है तो केवल कुमारदास तथा रावण का प्रतापी रघुवंश के रहते रावण के सिवा जनकतनया के हरण करने की योग्यता किस व्यक्ति में थी ? उसी प्रकार कालिदास के मनोहर रघुवंश काव्य के रहते उसी विषय पर कौन कवि अपनी लेखनी चला सकता था ? इन दोनों का उत्तर कवि कुमारदास की जानकीहरण महाकाव्य है ।

<u>रामायणमंजरी</u> --

महाकवि क्षेमेन्द्र द्वारा रचित 'रामायणमंजरी' नामक महाकाव्य संस्कृत साहित्य की अनुपम निधि है । इस महाकाव्य में रामायण की प्रख्यात कथाओं का संक्षिप्त रूप कवि द्वारा प्रस्तुत किया गया है । 'इनका संक्षेप इतनी कुशलता और विवेक से किया गया है कि इनसे मनोरंजन के साथ ही साथ मूल पाठ के निर्णय करने में भी इनसे पर्याप्त सहायता मिलती है । इन काव्यों की शैली प्रसादमयी, पदविन्यास कोमल तथा रसपेशल, अर्थयोजना रुचिर तथा कल्पनापूर्ण है । इनके अनुशीलन से शिक्षण तथा आनन्द दोनों प्राप्त होते हैं ।'[1]

प्रेम मानव-मानस का अलौकिक रत्न है । प्रेम का विस्तार अनंत है और मानव के अधिकांश भाव ज्ञात-अज्ञात रूप में प्रेम-प्रसूत होते हैं । मनुष्य का

---

१ सं० सा० का इति० (बलदेव उपाध्याय), पृ० २२३

धीरे संज्ञा प्राप्त होने पर अश्रु पूर्ण मुख से उच्च स्वर में तत्क्षण फिर पूछते हैं कि तुमने सीता को एकान्त में क्यों छोड़ा[1]। राम को उस समय भाई का ध्यान भूल गया और लक्ष्मण को धिक्कारने लगे कि तुम्हें धिक्कार है कि कान्तिमय कुसुम के समान कोमल सीता के शरीर को राक्षस खा गये[2]।

भाई लक्ष्मण के वचनों को सुनकर राम शोक से व्याकुल हो गये[3] और पर्वतों,[4] लताकुञ्जों,[5] मौन हुये तोतों,[6] मयूरों[7] आदि को लक्ष्य करके सीता के

---

१ संज्ञामासाद्य सक्रोधः बाष्पं वीक्ष्य लक्ष्मणम् ।
क्व मे प्रिया मम त्यक्ता क्वैकाकिनी त्वया ॥
-- रा० मं० ६५३ । १५५

२ व्यक्तं कान्तिमयं तस्या वपुः कुसुमकोमलम् ।
राक्षसैर्भक्षितं घोरैः क्षुब्धे विके प्रणाशितम् ॥
-- वही ६५४ । १५५

३ इति भ्रातुर्वचः श्रुत्वा रामः शोकविषाकुलः ।
क्वासि क्वासीह विलपन् वाक्यमेतत् ॥
-- वही श्लोक ६५६, पृ० १५५

४ शैलानन्यानटविकान् तानेव च महीरुहान् ।
सीतामेकामपश्यन्स पिच्छापाकुलाशयः ॥
-- वही श्लोक ६६० । पृ० १५५

५ अयि ! प्रिये क्वा नाम मञ्जुलैर्विवरस्त्वया ।
गृहीतो मयि येनासि लताजालैस्तिरोहिता ॥ -- वही ६६१ ।१५५

६ अयं ते नर्मसचिवः शुकः किमपि मुक्तवान् ।
गतकल्याहिरोहिताभिन प्रफुल्ला मिलः ॥ -- वही ६६२ । १५५

७ अयं त्वितमितां यातः शिखी त्वत्केलिनर्तकः ।
संस्मरन्त्वत्कटाक्षाणां राजीवुस कृपाविलम् ॥
-- वही ६६३ ।१५५

अत: रामचन्द्र जी आंखों में अश्रु एवं हृदय में उत्साह रखकर रावण से युद्ध करने का विचार करते हैं। उन्हें युद्ध में घायल जटायु दिखाई पड़ा।[1] सीता के विरह में उन्होंने सोचा कि जटायु ही सीता को खा गया है, इस प्रकार अत्यधिक क्रोध से वह धनुषबाण तक उठा लेते हैं।[2]

उपर्युक्त विवेचनों से स्पष्ट होता है कि राम सीता के विरह में 'डरपते' तथा रोते ही नहीं है, पता लगने पर काल को भी समर में जीत कर ले आने का उत्साह भी प्रकट करते हैं। यह कहा जा सकता है कि राम की विरह व्यथा प्रवासी सीता के प्रति है। महाकवि क्षेमेन्द्र ने पूर्वराग, मान, करुण आदि भेदों की योजना नहीं की है, राम सीता में से किसी की मृत्यु भी नहीं होती है। अत: विप्रलम्भ शृङ्गार के केवल प्रवास विप्रलम्भ का ही वर्णन रामायणमंजरी में हुआ है।

-0-

---

१ स गृध्ररूपमिमं घोरं पश्य लक्ष्मण राक्षसम्।
अनेन नूनं सा तन्वी भक्षिता हरिणेक्षणा ॥
-- रा० मं० १०४७। १६२

२ इत्युक्त्वा दुःसहक्रोधः संधाय धनुषि बाणान्।
सुरास्त्रं वज्रसदृशं स गृध्ररूपजिघांसया ॥
-- वही १०४९ । १६२

चतुर्थ परिच्छेद

महाभारत कथा पर आश्रित महाकाव्य

चतुर्थ परिच्छेद

-0-

महाभारत कथा पर आश्रित महाकाव्य

किरातार्जुनीय महाकाव्य --

'किरातार्जुनीयम्' संस्कृत के प्रसिद्ध महाकाव्यों में से अन्यतम है । इसे महाकाव्यों के 'बृहत्त्रयी' में प्रथम स्थान प्राप्त है । महाकवि कालिदास की कृतियों के अनन्तर संस्कृत साहित्य में भारवि के किरातार्जुनीय का ही स्थान है । यद्यपि कालिदास कृत रघुवंश महाकाव्य सर्ग आदि की दृष्टि से किरातार्जुनीय से लघुकाय ग्रंथ नहीं है, तथापि इसे बृहत्त्रयी में स्थान नहीं दिया गया है । कदाचित् इसका कारण यही है कि काव्य-कला के शिल्प-विधान की दृष्टि से किरातार्जुनीय रघुवंश महाकाव्य से उत्कृष्ट एवं ओजपूर्ण है । इस प्रकार से यह भी कहा जा सकता है कि समस्त संस्कृत साहित्य में किरातार्जुनीय के समान सरल, कोमल-कान्त गेय पदावली विभूषित काव्य के सम्पूर्ण शास्त्रीय लक्षणों से समन्वित ओजस्वी महाकाव्य दूसरा नहीं है । बृहत्त्रयी के दूसरे महाकाव्य शिशुपालवध की भांति क्लिष्ट कल्पनाओं का विकट घटाटोप है । छोटे-छोटे पदों की ललित कर्णप्रिय ध्वनि से गूंथे हुये मनोहर अर्थगौरव से विभूषित किरातार्जुनीय के सैकड़ों श्लोक अथवा श्लोकार्ध संस्कृत-प्रेमी-समाज के आज भी कंठहार बने हुये हैं । संभवत: लोकप्रियता में भी किरातार्जुनीय का स्थान मेघदूत एवं कुमारसंभव के बाद ही आता है ।

'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्य का मूलस्रोत महाभारत है । अठारह सर्गों में कथा का निबन्धन हुआ है । इसके नायक अर्जुन तथा प्रतिनायक किरात हैं के नाम पर 'किरातार्जुनीयम्' नाम रखा गया है । किरातार्जुनीय महाकाव्य में महाकाव्य के लक्षण पूर्णतया घटित होते हैं । इस दृष्टि से मल्लिनाथ का श्लोक द्रष्टव्य है --

नेता मध्यमपाण्डवो भगवतो नारायणस्यांशज: ।
तस्योत्कर्षकृतेऽनुवर्ण्यचरितो दिव्य: किरात: पुन: ।।

शृङ्गारादिरसोऽङ्गमत्र विजयी वीरः प्रधानो रसः ।
शैलाद्यानि च वर्णितानि बहुशो दिव्यास्त्रलाभः फलम् ॥

वीर रस की प्रधानता होने के साथ ही साथ इस महाकाव्य में विप्रलम्भ शृङ्गार की कवि ने बड़ी ही मंजुलमय झांकी प्रस्तुत की है । इस महाकाव्य में पूर्वानुराग का चित्रण नहीं किया गया है । तृतीय सर्ग में अर्जुन के इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या के लिये जाते समय द्रौपदी का विरह बड़ा ही मार्मिक है । व्यास जी अर्जुन को इन्द्रकील पर्वत पर मुनियों की भांति जाकर तपस्या करने की अनुमति देकर अन्तर्हित हो जाते हैं उसी समय अर्जुन को जाने के लिये तैयार देखकर द्रौपदी की अवस्था विक्षिप्त सी हो जाती है, जिस प्रकार से अन्धकार दिन के चारों प्रहरों को छोड़कर कृष्ण पक्ष की रात्रि को ही घेरता है उसी प्रकार से अर्जुन के विरह का यह शोक चारों पाण्डवों को छोड़कर एकत्र होकर द्रौपदी पर छा गया[1] ।

'कार्यवश, शापवश अथवा सम्भ्रम वश नायक के अन्य, देश में चले जाने को प्रवास कहते हैं'[2]। द्रौपदी का प्रवास कार्यवश है । कार्य विचार पूर्वक किया जाता है । अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या की सिद्धि के लिये ही जाते हैं । 'कार्यवश प्रवास तीन प्रकार का होता है --भविष्यत, वर्तमान और भूत ।'[3] यहाँ केवल भविष्यत्प्रवास (जब कि नायक परदेश के लिये प्रस्थान कर रहा है) का ही वर्णन है, भावी और भूत का नहीं ।

---

१ तान् भूरिधाम्नश्चतुरोऽपि दूरं विहाय यामानिव वासरस्य ।
एकौघभूतं तदशर्म कृष्णां विभावरीं ध्वान्तमिव प्रपेदे ॥
-- किरात० ३। ३५

२ प्रवासो भिन्नदेशित्वं कार्याच्छापाच्च संभ्रमात् ।
-- सा० द० ३। २०४

३ भावी भवन्भूत इति त्रिधा स्यात्तत्र कार्यजः ।
-- सा० द० ३। २०८

किसी अत्यावश्यक कार्यवश अर्जुन गमन के लिये प्रस्तुत हैं उस समय अर्जुन की विरह की गहरी व्यथा से द्रौपदी की आंखों में आंसू भरे थे जिससे वह ठीक तरह से अर्जुन को देख नहीं पाती थी । वह चाहती थी हृदय भरकर देखना किन्तु ऐसा तब तक नहीं हो सकता था जब तक नेत्र आंसुओं से स्वच्छ न हो, यदि वह आंसू गिराती तो अमङ्गल होता, क्योंकि यात्रा के समय स्त्री का रोना अपशकुन के सूचक होते हैं, अत: वह धैर्य को लेती रही । उस समय उसके नेत्र हिमकण से युक्त कमलपत्र के समान सुशोभित हो रहे थे[1]। संताप और मनोव्यथा की अधिकता से पिघला हुआ अन्त:करण ने भी नेत्रों के द्वारा आंसुओं को अमङ्गल के भय से रोक ही लिया । इन्द्रपुत्र अर्जुन ने सहज प्रेम रस से मनोहर, नेत्रानन्ददायी प्रियतमा द्रौपदी के दर्शन को अंजलि से पाथेय (मार्ग के सम्बल) की भांति अपने प्रसन्न मन में उसी प्रकार ग्रहण किया जिस प्रकार से कोई पथिक सहज प्रेम से अपनी प्रियतमा द्वारा दिये गये मधुर पाथेय को अंजलि से ग्रहण करता है[2]।

व्यास के अन्तर्हित होते ही अर्जुन के पास यक्ष उपस्थित हो गया तब उन्हें जाने के लिये उद्यत देख द्रौपदी की स्थिति एवं कथन -- जङ्गली हाथी द्वारा गंदली की गयी ग्रीष्म की नदी की भांति, धैर्य के छूटने से उदास राजपुत्री द्रौपदी वाष्प के रुक जाने से अवरुद्ध कण्ठ द्वारा बड़ी कठिनाई से यह बोली[3] --"कौरव के

---

१ तुषारलेखाऽऽकुलितोत्पलाभे पर्यश्रुणी मङ्गलभङ्गभीरुः ।
अगूढभावापि विलोकने सा न लोचने मीलयितुं विषेहे ॥
-- किरात० ३।३६

२ अकृत्रिमप्रेमरसाभिरामं रामाऽर्पितं दृष्टिविलोभि दृष्टम् ।
मनः प्रसादाञ्जलिना निकामं जग्राह पाथेयमिवेन्द्रसूनुः ॥
-- वही ३। ३७

३ धैर्यावसादेन हृतप्रसादा वन्याद्विपेनेव निदाघसिन्धुः ।
निरुद्धबाष्पोदयसन्नकण्ठमुवाच कृच्छ्रादिति राजपुत्री ।
-- वही ३ । ३८

समान शत्रुओं के कपट व्यवहार में डूबी हुई उस यश की सम्पत्ति के समान के योग्यता उद्धारकर्ता तुम ही हो, अतः मन की व्यथा दूर करने वाली साधना की सफलता पर्यन्त तक तुम इन लोगों के बिना अत्यन्त व्यथित मत होना ।[1]

द्रौपदी का कहने का तात्पर्य यह है कि शत्रु के कपट से नष्ट हम सब की योग्यता को तुम ही पहले जैसी बना सकते हो । अतः जब तक तपस्या का फल न मिल जाये तब तक तुम्हें अत्यन्त उदास या व्यथित नहीं होना चाहिये ।

द्रौपदी का धैर्य नष्ट हो चुका है फिर भी वह अर्जुन को धीर बाते समझाती है --'उज्ज्वल कीर्ति पाने के लिये सुख प्राप्ति के लिये अथवा साधारण मनुष्यों से ऊपर उठकर कोई असाधारण काम करने के लिये उद्यत होने वाले एवं कभी अनुत्साहित न होने वाले लोगों की सफलता अनुरक्ता स्त्री की भाँति स्वयमेव अंकगत होती है ।[2]

महाकवि भारवि ने प्रवास विप्रलम्भ शृङ्गार का चित्रण जो भी किया है वह मार्मिक है । कालिदास ने रघुवंश में सीता को प्रवासी बनाया । सीता के प्रवास में राम को भी रुलाया किन्तु अर्जुन के प्रवास में भिन्नता है यहाँ तो अर्जुन कार्यवश तपस्या के लिये जाते हैं, उस समय रोना अमङ्गल का सूचक होता है, द्रौपदी ने अपने अश्रु रोक लिये और अपने प्रिय को युद्ध के लिये उत्साहित किया । यद्यपि महाकवि माघ ने भी प्रवास का चित्रण किया है किन्तु उनके प्रवास में युद्धार्थ प्रस्थित वीरों की स्त्रियां नायकों के जाते समय अश्रु बहाने लगती हैं, जो किसी नायिका के

---

१ मग्नां द्विषच्छद्मनि पङ्कभूते सम्भावनां भूतिमिवोद्धरिष्यन् ।
आधिद्विषामा तपसां प्रसिद्धेरस्मद्विना मा भृशमुन्मनीभूः ॥
-- किरात० ३।३९

२ यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्तितुं वा ।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः ॥
-- वही ३।४०

हाथ से प्याला गिर पड़ता है तो किसी के हाथ से कंकण, कोई ऊपर देखने लगती है तो कोई नायिका नायक को ही एकटक देखती है, यह सभी बातें अनङ्गमद की सूचक हैं जिसका कवि भारवि ने ध्यान रखा है ।

विप्रलम्भ शृङ्गार के चार प्रकारों पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण में से कवि ने न तो पूर्वराग का ही वर्णन किया और न ही करुण विप्रलम्भ शृङ्गार का चित्रण किया है । प्रवास विप्रलम्भ एवं मान विप्रलम्भ का वर्णन किया है उसमें भी पहले नायक का प्रवास ही दिखा दिया तत्पश्चात् मान विप्रलम्भ शृङ्गार का चित्रण किया है । मान में भी प्रणयमान का चित्रण न करके केवल ईर्ष्यामान का ही चित्रण किया है जो केवल नायिकाओं में ही होता है । इस उपर्युक्त महाकाव्य के अष्टम एवं नवम सर्ग में यत्र-तत्र ईर्ष्यामान का दृश्य उपस्थित हुआ है ।

'पति की अन्य अङ्गना में आसक्ति को देखने पर या अनुमान कर लेने पर अथवा किसी से सुन लेने पर नायिकाओं को ईर्ष्यामान होता है उसमें अनुमान तीन तरह से होता है -- स्वप्न में अन्य नायिका के सम्बन्ध की बातें बड़बड़ाने से या (२) नायक में उसके सम्भोग चिह्नों को देखने से अथवा (३) अचानक नायक के मुख से अन्य नायिका का नाम निकल जाने से ।'[1]

एक नायक नायिका को फलों का गुच्छा दे रहा है, ध्यान लगा था उसका किसी अन्य नायिका में । क्योंकि वह कुछ देते समय नायिका को दूसरी नाम से सम्बोधित कर देता है । वह नायिका नायक की अन्यासक्ति को समझ जाती

---

१ पत्युरन्यप्रियासङ्गे दृष्टेऽथानुमिते श्रुते
ईर्ष्यामानो भवेत्स्त्रीणां तत्र त्वनुमितिस्त्रिधा ।।
उत्स्वप्नायित भोगाङ्क गोत्र स्खलनसंभवा ।
-- सा० द० ३। १९९, २००

है किन्तु अज्ञान से नायक को कुछ नहीं कहती केवल आँखों में आँसू लाकर पैर से धरती को कुरेदने लगती है[1]।

सपत्नी का नाम लेने पर कलह हुयी । मानिनी भी अत: बोली कुछ भी नहीं, केवल रोती ही रही । यहाँ नायक के गलत नाम लेने से पहली नायिका के हृदय में दूसरी कनिष्ठा नायिका के प्रति ईर्ष्या होती है । वह मान करती है । उसके हृदय में उत्पन्न हुये निर्वेद को कवि स्पष्टत: नहीं कहता अपितु 'चरणेन भुवं लिलेख' कहकर उसकी व्यञ्जना कराता है । पं० हरिदत्तशास्त्री के शब्दों में -- 'कालिदास की पार्वती अपने विवाह की बात सुनकर (लीला) कमल के पत्तों को गिनने लगती है तो भारवि की नायिका ईर्ष्याजन्य मान के कारण नायक से कुछ कहती नहीं वह केवल पैर से धरती को कुरेदने लगती है । भारवि का यह व्यञ्जना प्रधान पद भाव-चित्रण की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट है तथा कालिदास के अंकुश एवं व्यञ्जना गर्भित चित्रों से बहुत कुछ समानता रखता है ।'[2]

अनुराग से अन्यासक्ति का उदाहरण -- 'किसी नायिका ने सपत्नी के सम्मुख प्रियतम द्वारा गूंथकर उन्नत उरोजों से सुशोभित वक्षःस्थल पर पहनायी गयी पुष्पमाला को जल से म्लान होने पर भी नहीं छोड़ा क्यों कि गुण तो प्रेम में निवास करते हैं वस्तु में नहीं ।'[3]

---

1 प्रणयकोपभृत: कुसुमानि मानिनी विपक्षनाम्नि दयितेन लम्भिता ।
न किञ्चिदूचे चरणेन केवलं लिलेख बाष्पाकुललोचना भुवम् ॥
-- किरात० ० ८।१४

2 सं० का - पृ० १७७

3 प्रियेण सङ्ग्रथ्य विपक्षसन्निधावुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने ।
स्रजं न काचिद्विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि ॥
-- किरात० ८ ।३७

उसका कोई कारण मुझे नहीं है[1]। सापराध प्रियतम का नायिका ने तिरस्कार किया जिस कारण वह नायक खिन्न होकर क्रोध के बहाने से शीघ्र ही लौट पड़ा। इस पर वह नायिका रो उठी। मित्र के समान उस रमणी के अश्रु ने प्रियतम को जाने से रोक दिया[2]।

यहाँ प्रियतम के किसी अन्य सुन्दरी में आसक्त होने के कारण नायिका ईर्ष्या से खिन्न दिखायी पड़ी है वह इसीलिए पति का तिरस्कार करती है। किन्तु वह अधीरा है। पति के लौट पड़ने पर वह धैर्य खो बैठती है और आँसू बहाने लगती है।

रति क्रीड़ा का समय आ जाने पर भी नायिकाओं के प्रियतम नहीं आये क्योंकि नायिकायें उनसे कुद्ध थीं और स्वयं उन प्रियतमों के पास जाना भी नहीं चाहती थीं -- अपने प्रियतमों के निवास स्थान को प्रस्थित एवं अपनी प्रिय सखियों के आग्रहपूर्ण वचनों को तिरस्कृत करने वाली मानिनी रमणियों ने धैर्य को छुड़ाने वाली एवं शरीर तथा मान को कुंठ करने वाली मदिरा का सहारा लिया[3]।

कोई नायिका अपने प्रियतम से कुपित है। उस नायिका की एक सखी प्रणय कुपिता मानिनी से कह रही है -- 'मान त्याग दो अपने प्रियतम के पास

---

१ हारि चारुरचितानि कपोलौ शोभितं त्वयि कुतः कलहोऽस्याः।
कामिनामिति वचः पुनरुक्तं प्रीतये नवनवत्वमियाय ॥
-- किरात० ९। ४४

२ सव्यलीकमवधीरितखिन्नं प्रस्थितं सपदि कोपपदेन।
योषितः सुहृदिव स्म रुणद्धि प्राणनाथमभिबाष्पनिपातः ॥
-- वही ९। ४५

३ प्रस्थिताभिरधिनाथनिवासं ध्वंसितप्रियसखीवचनाभिः।
मानिनीभिरपहस्तितधैर्यः सादयन्नपि मदो ववलम्बे।
-- वही ९। ३५

शिशुपालवध -

बृहत्त्रयी में विशेष मान्य काव्य-शैली के लिये प्रख्यात 'शिशुपालवध' के श्री माघ कवि एकमात्र महाकाव्य है । एक ही महाकाव्य के कारण उन्होंने संस्कृत साहित्य में अपना मूर्धन्य स्थान बना लिया है । कवि ने भारत की कथा को आधार बनाकर अपने काव्य की रचना की है और संक्षिप्त-सी मूल कथा को अपनी काव्य-प्रतिभा के बल पर विंश सर्गों के महाकाव्य की रचना का विपुल विस्तार प्रदान किया है । कालिदास का काव्य यदि स्वच्छ मानसरोवर है जिसमें सब प्रकार के आकर्षण मौजूद हैं तो माघ का काव्य अगाध रत्नाकर समुद्र है जिसमें अवगाहन करने की प्रेरणा सर्वसाधारण में नहीं होती । शिशुपालवध का मुख्य रस वीर है किन्तु काव्य के बीच में लम्बे-लम्बे शृङ्गारमय वर्णनों को पढ़ते हुये पाठक को इस बात का सन्देह होने लगता है कि वह वीर रस का काव्य पढ़ रहा है ।

न हि विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते ।[1]
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्द्धते ।।

बिना विरह के मिलन में कोई आनन्दतत्व नहीं रहता । क्षार से साफ किये हुये कपड़े पर चोखा रङ्ग चढ़ता है । बिना विरहाग्नि से तपे मिलनोत्सुक शरीरात्मा का मन ही मिलन नहीं हो सकती । सम्भोग की परिपुष्टि और आत्मा की तुष्टि के लिये विरह अत्यन्त आवश्यक है ।

शृङ्गार के भेदों में से संयोग शृङ्गार का ही वर्णन कवि ने किया है । किन्तु ऊपर तो स्पष्ट ही कह दिया गया है कि विप्रलम्भ शृङ्गार के बिना सम्भोग की पुष्टि नहीं होती है । इस महाकाव्य में कुछ स्थलों पर विप्रलम्भ शृङ्गार के जो चित्र मिलते हैं वे सम्भोग शृङ्गार के उद्दीपन के रूप में चित्रित किये

---

१ सा० द० ३ । २१३

रहे हो -- दन्तक्षत वाले ओष्ठ को बार-बार अपने हाथ से ढक रहे हो ; किन्तु प्रत्येक दिशा में फैलती हुई परायी स्त्री के समागम की सूचना देने वाली इस नूतन विमर्द सुगन्ध (रति- की गन्ध) को भला तुम कैसे छिपा सकोगे ?[1]

यह खण्डिता नायिका थी ।

साम, भेद, दान, नति, उपेक्षा और रसान्तर इन छः उपायों को नायक को नायिका को मनाने के लिये ग्रहण करने पड़ते हैं । प्रिय वचन के द्वारा नायिका को वश में करना ही साम है — 'किसी युवक के अंगों में विद्यमान रात्रि के नखक्षतों एवं दन्तक्षतों को सपत्नी द्वारा किया गया समझ कर जब उसकी वधू क्रोध युक्त हो गयी तब -- 'मद को मस्ती में आकर तुम्हीं ने ये नखक्षत और दन्तक्षत किये थे क्या तुम्हें याद नहीं है --' इस प्रकार की बातों से चिढ़ाते नायक ने उसे लज्जित कर मना लिया ।'[2]

नायिका के पैरों पर गिरना ही नति है, यह नायिका के पैर पर गिर कर उसे मनाने की चेष्टा कर रहा है --'पति से तिरस्कारपूर्ण बातें कर जब कोई प्रेयसी रोने लगती है तब उसका नायक डरते-डरते उसके समीप जाकर उसके पैरों पर गिर कर उसे प्रसन्न करने की चेष्टा करने लगा (ठीक ही है) प्रणय कलह में सुन्दरी का

---

१ नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन
स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम् ।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसर्प -
न्नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम् ।।
--शिशु० ११।३३

२ करजदशनचिह्नं नैशमङ्गेऽन्यनारी--
जनितमिति सरोषं [illegible] वा कङ्कणानाम् ।
स्मरसि न खलु दत्तं मद्यमत्तेन
[illegible] प्रीतमानां [illegible] ।।
-- वही ११। ३७

करुण[1] रुदन भी अहंकारी नायक के अहंकार को दूर करने में समर्थ अस्त्र के समान होता है ।

अगर नायक या नायिका दोनों में से किसी एक का भी मान टूट जाता है तो उसे सम्भोग संचारी भाव मानते हैं । उदाहरणार्थ -- "प्रियतम की रति प्रार्थना को अस्वीकार कर हठपूर्वक उसकी ओर मुंह करके सोयी हुयी कोई सुन्दरी प्रातः के समय मुर्गे की तीव्र आवाज सुनकर अंग तोड़ने के बहाने से फिर पति के सम्मुख हो गयी और नींद में आंखें मूंद कर मानो बिना जाने ही अपने प्रियतम से जाकर लिपट गयी ।"[2]

ईर्ष्यामान विप्रलम्भ के इन पूर्व पदों में नायक और नायिका आलम्बन हैं । नदी, तट, पुष्पवाटिका, जल-क्रीड़ा आदि उद्दीपन हैं । विरह का कुछ नायिकाओं द्वारा सिसकियां भरना, व्यंग्य कसना आदि अनुभाव हैं । ग्लानि, शंका, चिन्ता, स्मृति, स्वप्न, धृति, चापल्य आदि संचारी भावों के योग से रति स्थायी भाव है ।

---

१ इति कृतवचनायाः कश्चिदभ्येत्य बिभ्यत् -
कुपितनयनवारेर्याति पादावनामम् ।
करुणमपि समर्थं मानिनां मानभेदे —
रुदितमुदितमस्त्रं योषितां विग्रहेषु ॥
— शिशु० ११ । ३५

२ अनुनयमगृहीत्वा व्याजसुप्ता पराची
रुतमथ कृकवाकोस्तारमाकर्ण्य कल्ये ।
कथमपि परिवृत्ता निद्रयान्धा किल स्त्री
मुकुलितनयनैवाश्लिष्यति प्राणनाथम् ॥
— वही ११ ।६

मान में प्रेमी युग्म का विच्छेद तो नहीं होता केवल दोनों पक्षों के मध्य एक ऐसा व्यवधान पड़ जाता है कि संयोग भी वहां वियोग (विप्रलम्भ) बन जाता है। जिस भांति पूर्वराग को वियोग के अन्तर्गत नहीं स्वीकार करते क्योंकि पूर्वराग योग के पूर्व की स्थिति है। जिसमें अभिलाषा की छटपटाहट तो है किन्तु प्रेम का परिपाक वहां पर कहाँ ? उसी भांति मान को विदान संयोग का अंग स्वीकार करते हैं। विरहोचित गाम्भीर्य वहां कहां ? पूर्वराग अथवा मान में प्रवास जैसी अवसाद की वह गम्भीरता वहां नहीं है। प्रवास से उत्पन्न विरह गांभीर्य का वर्णन करने में अधिकांश कवि इतने सफल नहीं हुए हैं जितने अभिलाषा के मान आदि के वर्णनों में उन्होंने पूर्ण सफलता प्राप्त की है। माघ कवि का काव्य और वस्तुतः इसके लिये अच्छा उदाहरण है।

महाकवि माघ ने यत्र-तत्र प्रवास विप्रलम्भ का वर्णन भी किया है। गच्छत्प्रवास (जबकि पति विदेश जा रहा हो) का उदाहरण -- युद्धार्थ प्रस्थित वीरों की उनकी स्त्रियों के साथ जो बातचीत हुयी उसका वर्णन देखिये--"पीने के लिये प्रियतम को देते समय कोई मदिरा युक्त प्याला जो अधिक मत्तता के लिये छोड़ गये कमल पर मंडराते हुये भ्रमरों के समूह रूपी जंजीर से वेष्टित हो रहा था, राजमहिषी के शिथिल हाथों से नीचे गिर पड़ा।"[1]

प्याले का गिरना भावी विरह का सूचक है।

प्रियतम के भावी विरह की चिन्ता से उत्पन्न शोक से किसी कजरारे हुयी आंखों वाली सुन्दरी के मद्यपान से होने वाले -- मतवाले पन को दूर कर

---

१ दयिताय सासवमुदस्तममलवलयादिन: करात् ।
कान्तमुपाश्रितवरोष्ठलग्नरोमाहृतवल राजमहिषीभिः ॥
-- शिशु० १५ ।८१

रसिकों की दृष्टि में मनोहर आकृति वालों का रुदन भी शोभा जनक होता है। प्रियजन लोग प्रेम के कारण सदा अनिष्ट की आशंका किया ही करते हैं।

संस्कृत कवि यद्यपि प्रवास का चित्रण करने में सफल नहीं है किन्तु महाकवि माघ के महाकाव्य में प्रवास के चित्रण देखने को मिल जाते हैं। शृङ्गार के चित्रण का बाहुल्य है किन्तु विप्रलम्भ के जो भी चित्र मिलते हैं उनमें आध्यात्मिक पक्ष की अनुभूति होती है। मनमोहन लाल जगन्नाथ शर्मा जी के शब्दों में --"महाकवि माघ के शृङ्गार के चित्रों को आदि से अन्त तक देखे जाने पर शायद ही कोई एक आध चित्र ऐसा होगा जिसमें विप्रलम्भ शृङ्गार का वर्णन हो। विप्रलम्भ में शृङ्गार के आध्यात्मिक पक्ष की अनुभूति होती है, यही मानव को चिरस्थायी आनन्द की उपलब्धि कराती है। कालिदास और भवभूति की अमरता उनके विप्रलम्भ वर्णन के कारण ही है। भले विप्रलम्भ शृङ्गार के वर्णन के लिये शिशुपाल वध की कथावस्तु उपयुक्त नहीं है, पर उसके अभाव में माघ कवि उस ऊंचाई पर नहीं पहुंच सके जहां कालिदास और भवभूति पहुंचे हैं।[1]

---

१ महाकवि माघ - पृ० १७७-१७८

नैषधीयचरित -

नैषधीयचरित एक महाकाव्य है । महाकाव्य में शृङ्गार ,वीर, तथा शान्त रसों में से एक रस को प्रधान रूप से तथा अन्य रसों को अंग रूप से योजना करना आवश्यक होता है --

> शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।
> अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः ॥[1]

शृङ्गार रस का प्रथम भेद संभोग होता है । परन्तु श्रीहर्ष ने नैषध का प्रारम्भ विप्रलम्भ योजना से किया है । नल जीवन का पूर्वार्द्ध भी इसी प्रकार का । नैषध का विप्रलम्भ शृङ्गार अभिलाष अथवा पूर्वराग के रूप का है । श्रीहर्ष ने काव्य का नाम नलचरित रखा है और इसका प्रारम्भ भी नल का परिचय देते हुये किया । नल के जीवन में दमयन्ती की अवतारणा कब और कैसे हुये, इस प्रसङ्ग को महाकवि ने अद्भुत सफलता के साथ कल्पित किया है । कठिनाई इस कारण विशेष थी कि भारतीय प्रेम-पद्धति में नायिका का नायक का अनुराग पहले दिखाया जाता है, नायक का नायिका में बाद को । अब यदि दमयन्ती का परिचय पहले देकर उसके महानुराग का विवरण देते हुये काव्य का प्रारम्भ करते तो उसमें प्रामुख्य दमयन्ती चरित का होता, जिससे नलीय चरित नाम सार्थक न होता । अतः नल का परिचय देता हुआ कवि उसके बल, दान, पराक्रम आदि का विवरण प्रस्तुत करके क्रमशः सन्धि के समय रूप-सौन्दर्य का बड़ा विस्तृत चित्रण करता है ।

पूर्वराग -

पूर्वराग विप्रलम्भ शृङ्गार का सर्वप्रथम उपभेद स्वीकार किया गया है । परस्पर गुण श्रवणादि से अनुराग-युक्त होते हुये भी परतन्त्रता आदि के कारण इष्ट का समागम न प्राप्त कर पाने वाले नायक-नायिकाओं की समागम-पूर्वकालिक कामदशाओं के व्यापार को पूर्वराग से अभिहित किया गया है । गुण श्रवणादि

---

1 सा० द० ६ । ३१७

से परस्पर अनुरक्त नायक-नायिकाओं में सर्वप्रथम अभिलाष अवस्था की उत्पत्ति होती है । यह अवस्था इष्ट का समागम न प्राप्त कर पाने से उत्तरोत्तर विकसित होती रहती है । इस अभिलाष दशा के उत्तरोत्तर विकास के साथ-साथ नायक-नायिकाओं के शारीरिक तथा मानसिक व्यापारों में भी परिवर्तन होता रहता है । इन परिवर्तनों के ही आधार बनाकर नायक-नायिकाओं की कामावस्था अभिलाष आदि दस भेदों में विभक्त किया गया है ।

अभिलाष अवस्था --

काम्य व्यक्ति के गुण श्रवणादि से उत्पन्न स्पृहा को अभिलाष नाम से अभिहित किया गया है :--

अभिलाष: स्पृहा तत्र कान्ते सर्वांगसुन्दरे ।
दृष्टे श्रुते वा तत्रापि विस्मयानन्दसाध्वसा: ।।[1]

यद्यपि गुणश्रवणादि से काम्य व्यक्ति के ज्ञान के अनन्तर ही कामुक की चित्तवृत्ति में उसका समागम प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है । परन्तु इसका सम्यक् उद्रेक तब होता है जबकि कामुक काम्य व्यक्ति के समागम को प्राप्त करने की इच्छा से युक्त हो जाने के साथ-साथ उसको प्राप्त करने के लिये दृढ़संकल्प हो जाता है । अभिलाष अवस्था के उत्पन्न हो जाने पर कामुक इष्ट व्यक्ति का समागम प्राप्त कराने वाले उपायों का भी चिन्तन करने लगता है[2] । भरत ने अभिलाष

---

१ द० रू० ४। ५३

२ व्यवसायात्समारब्ध: संकल्पेच्छासमुद्भव: ।
समागमोपायकृत: सोऽभिलाष: प्रकीर्तित: ।। -- ना० शा० २२। १५४

व्यवसायादिति काम्यजनानं तत्संकल्पयुक्तेच्छा तद् उद्भव उद्रिक्तत्वमस्येति समागमोपायस्य अभिलाषस्य चिन्ता विषयस्य द्वितीयावस्थात्मन: कृतं करणं यतो भवति हि केनोपायेन इति चिन्तनीयावस्थापरिहारितं कार्यम् ।

वही अभि०, पृ० २००

अनुसार दमयन्तीगत अनुराग को शृङ्गाराभास कहा जा सकता था[1] ।

नलगत अभिलाष अवस्था भी दमयन्ती की भाँति गुण-श्रवण से उत्पन्न होती है । दमयन्ती गुण श्रवण करते ही काम नल के धैर्य और मन को अपने वश में करने का प्रयत्न करने लगता है और अन्त में वह अपने इस प्रयत्न में सफल भी हो जाता है[2] । भला पितामह भी जिस काम की आज्ञा का उल्लंघन न कर सके थे नल उसकी अवहेलना कब तक कर सकता था । शनैः शनैः दमयन्ती के समागम को प्राप्त करने की अभिलाषा उसके अन्तस्तल में अपना स्थान बना लेती है और अब वह लज्जा भी उसकी अभिलाषा को रोक रखने में असमर्थ हो जाती है[3] ।

यहाँ पर गुण दमयन्ती आलम्बन विभाव है । युवकों के धैर्य को लुप्त कर देने वाले उसके गुण उद्दीपन विभाव हैं । नलगत अधैर्य तथा दमयन्ती चिन्तनादि अनुभाव हैं । चपलता, औत्सुक्य तथा चिन्तनादि व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट नलगत रति स्थायी भाव व्यंग्य है । नलगत इस रति स्थायी भाव को अभिलाषात्मक पूर्वराग विप्रलम्भ के नाम से अभिहित किया जायेगा । क्योंकि नल ने अभी तक दमयन्ती के गुणों को ही सुना था । चाहते हुये भी उसे अभी दमयन्ती का समागम नहीं प्राप्त

---

१ एकत्रानुबन्धनिष्ठत्वेऽपि प्रत्येकनिष्ठत्वे रसेराभासत्वम् इति भरतोपनयकाराः ।

-- सा० द०, पृ० १२६

२ स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः श्रयन्तमन्तर्घटनागुणश्रियम् ।
कदाचिदस्या युवधैर्यलोपिनं नलोऽपि लोकादशृणोद्गुणोत्करम् ॥
अनेन भैमीं घटयिष्यतस्तथा विधेरवन्ध्येच्छतया व्यलासि तत् ।
अभेदि तत्तादृगनङ्गमार्गणैर्यदस्य पौष्पैरपि धैर्यकञ्चुकम् ॥

-- नै० १।४२, ४६

३ किमन्यदद्यापि यदस्त्रतापितः पितामहो वारिजमाश्रयत्यहो ।
स्मरं तनुच्छायतया तमात्मनः शशाक शङ्के स न लङ्घितुं नलः ॥
उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं नवोपहारेण वयस्कृतेन किम् ।
त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य सा नलस्य तन्वी हृदयं विवेश यत् ।

-- वही १।३०, ३८

हो उठा था । उसके साथ-साथ वह समागम पूर्वकालिक अभिलाष दशा के सूचक अश्रु तथा दमयन्ती चिन्तनादि व्यापारों से भी युक्त था जोकि तद्गत रति स्थायीभाव के प्रधान व्यंजक हैं ।

चिन्ता अवस्था -

काम्य व्यक्ति का समागम किस प्रकार प्राप्त हो अथवा वह मेरा किस प्रकार बने इस प्रकार के दूती निवेदित या स्वसंकल्पित मनोरथ चिन्तावस्था के सूचक होते हैं[1]।

भरत ने चिन्तावस्था सूचक निम्नलिखित व्यापारों का निर्देश किया है --

आकेकरार्धविप्रेक्षितानि वलयरशनापरामर्शः ।
नीवीनाभ्योः संस्पर्शनं च कार्यं द्वितीये तु ॥[2]

श्रीहर्ष ने दमयन्तीगत चिन्तावस्था की योजना अभिलाष अवस्था के साथ में ही की है । हम देख चुके हैं कि अभिनव ने भरत के द्वारा निर्दिष्ट अभिलाष लक्षण की व्याख्या करते हुये अभिलाष अवस्था के साथ चिन्ता अवस्था की योजना करने का समर्थन भी किया है ।

दमयन्ती किसी न किसी व्याज से बार बार दूतियों के द्वारा नल-गुण वर्णन कराया करती थी । परन्तु उसे सुनकर वह विमनस्क हो जाती थी

---

१ केनोपायेन संप्राप्तिः कथं वासौ भवेन्मम ।
दूतीनिवेदितैर्भावैरिति चिन्तां निदर्शयेत् ॥ -- ना० शा० २२ । १७५

दूतीनिवेदितैः मनोरथैरुत्सुकतराणाम् स्वसंकल्पितैरपीत्यर्थः ।
-- अ० भा० पृ० २००

२ ना० शा० २२ । १७६

तथा चिरकाल तक एक स्थान पर बैठी रहती थी[1]।

इसी प्रकार भित्तिचित्रों का निर्माण कराकर वह अपनी तथा नल की रूपता का अवलोकन किया करती थी[2]।

यहाँ पर भी पुरुष नल आलम्बन विभाव है। सूतादिकों के द्वारा किया गया नल-गुण-वर्णन तथा भित्तिचित्र आदि उद्दीपन विभाव हैं। दमयन्ती की विमनस्कता, उसका चिरकाल तक एक स्थान पर बैठे रहना तथा भित्तिचित्रों में अपनी तथा नल की समानता देखना आदि अनुभाव हैं। औत्सुक्य, चिन्ता तथा जड़ता आदि व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट रति स्थायी भाव व्यंग्य है। व्यक्त रति स्थायीभाव की आश्रय दमयन्ती को अभी तक नल का समागम नहीं प्राप्त हो सका था तथा वह चिन्ता नामक कामदशा से युक्त नलसमागमप्राप्त्युपाय-चिन्तनजन्य विमनस्कता तथा भित्तिचित्रों में अपने तथा नल के रूपसाम्यावलोकनादिक व्यापारों से भी युक्त थी जो कि उक्त रति भाव के प्रधान व्यंजक हैं। अतः उपर्युक्त प्रकरणगत व्यक्त रति स्थायी-भाव को चिन्तावस्थात्मक पूर्वराग विप्रलम्भ शृङ्गार के नाम से अभिहित किया जायेगा।

नैषध में नलगत चिन्तावस्था की योजना भी अभिलाष अवस्था के अव्यवहित अनन्तर में की है। दमयन्ती समागम की अभिलाषा जाग्रत हो जाने के उपरान्त नल अहर्निश दमयन्ती चिन्तन में लीन रहने लगता है। फलतः उसका धैर्य नष्ट हो जाता है और वह रात्रि में सो पाने तक में असमर्थ हो जाता है[3]।

---

१ नलस्य पृष्टा निषधागता गुणान्मिषेण दूत-द्विज-वन्दि चारणाः।
निपीय तत्कीर्तिकथामथानया चिराय तस्थे विमनायमानया ॥
— नै० १। ३७

२ प्रियं प्रियां च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाधिलीलागृहभित्तिकावपि।
इति स्म सा कारुवरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते ॥
— वही १। ३८

३ अपह्नुवानस्य जनाय यन्निजामधीरतामस्य कृतं मनोभुवा।
अबोधि तज्जागरदुःखसाक्षिणी निशा च शय्या च शशाङ्ककोमला ॥
— वही १। ४९

स्वप्न में नल दर्शन करना, उसकी इन्द्रियों का विरत व्यापार हो जाना, नल चिन्तन तथा निद्राजागरणादि अनुभाव है। औत्सुक्य, चिन्ता, सुप्त, जड़ता तथा स्मृति आदि व्यभिचारी-भावों से परिपुष्ट रति स्थायीभाव व्यंग्य है। व्यंग्य रति स्थायी भाव के समागम पूर्ववर्ती एवं विरहकालिक होने के कारण तथा उसके तथा उसके आश्रय नल के रति-स्थायीभावाभिव्यंजक स्वप्न, इन्द्रियों की विरत व्यापारता, स्मृति तथा निद्राजागरणादिक स्मृति कामदशा सूचक उपादानों से युक्त होने के कारण इसे स्मरण-दशात्मक पूर्वराग विप्रलम्भ शृङ्गार के नाम से अभिहित किया जाएगा।

श्रीहर्ष ने नलगत स्मृति अवस्था की योजना भी तद्गत अभिलाषा तथा चिन्तावस्था के अंकन करने के अव्यवहित अनन्तर में ही की है। दमयन्ती विरह से अत्यन्त संतप्त रहने के कारण नल की श्वास गति तीव्र हो जाती है तथा उसकी आकृति पीत-वर्ण की हो जाती है। वह उन्माद में ही अलीक दमयन्ती से बातें करने लगता है तथा वीणा को सुनकर तो वह मूर्छित ही हो जाता है[1]।

यद्यपि नल ने अपने उपर्युक्त विकारों को किसी न किसी प्रकार छिपा लिया था। परन्तु जब उसका कामविकार सभा में ही प्रकट हो जाता है तो वह अत्यधिक उद्विग्न होता है और जब वह देखता है कि उसका विवेक उसकी चपलता पर नियन्त्रण रखने में असमर्थ हो गया है तो वह उपवन सेवन के व्याज से निर्जन सेवन करने का निश्चय कर लेता है[2]।

---

१ मृषाविषादाभिनयादयं क्वचिज्जुगोप निःश्वाससततिं वियोगजाम्।
विलेपनस्याधिक चन्द्रभागताविभावनाच्चापललाप पाण्डुताम्॥
शशाक निह्नोतुमनेन तत्प्रियामयंबभाषे यदलीकवीक्षिताम्।
समाज एवालपितासु वैणिकैर्मुमूर्छ यत्पञ्चममूर्छनासु च॥

— नै० १।५१,५२

२ अवाप सापत्रपतां स भूपतिर्जितेन्द्रियाणां धुरि कीर्तितस्थितिः।
असंवरे शम्बरवैरिविक्रमे क्रमेण तत्र स्फुटतामुपेयुषि॥
अनङ्गचिह्नं स विना शशाक नो यदासितुं संसदि यत्नवानपि
क्षणं तदारामविहारकैतवान्निषेवितुं देशमियेष निर्जनम्

— वही १।५३, ५४

इस प्रकरण में भी दमयन्ती आलम्बन विभाव है । उसके गुण उद्दीपन विभाव हैं । नलका निःश्वास, पाण्डुता, उनका अधिक दमयन्ती से सम्भाषण करना, मूर्छित हो जाना, सभा में ही उनके कामविकारों का प्रकट हो जाना, उनका काम विकारों को छिपा पाने में असमर्थ हो जाना तथा अपने राज-कार्यों को परित्याग कर निर्जन सेवन करने के लिये निश्चय कर लेना आदि अनुभाव हैं । औत्सुक्य, अवहित्था, मोह, व्रीडा, विषाद चपलता तथा स्मृति आदि व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट रति स्थायी भाव व्यंग्य है । इस व्यंग्य रति स्थायी भाव के समागम पूर्ववर्ती विरह कालिक होने के कारण तथा रति के आश्रय नल के स्मृति काम-दशा-सूचक निःश्वास, पीतवर्णता, भ्रम, मूर्छा, स्मृति चपलता तथा स्वकार्य परित्याग आदि लक्षणों से युक्त होने के कारण इसे स्मृत्यवस्थात्मक पूर्वराग विप्रलम्भ श्रृङ्गार रस के नाम से अभिहित किया जाएगा ।

नल दमयन्ती विरह जन्य संताप को दूर करने के लिये उपवन सेवन करने के लिये गया था[1] । परन्तु उपवन के लता वनस्पतियों को देखकर उसकी वियोग व्यथा शान्त न होकर और अधिक प्रदीप्त हो जाती है । उपवन में स्थित सभी वनस्पतियाँ उसका मनोविनोद न कर उसे दमयन्ती की स्मृति दिलाने लगती हैं । उपवन में सर्वप्रथम उसकी दृष्टि केतकी पुष्प पर पड़ती है । परन्तु उसे देखते ही उसे ऐसा प्रतीत होता है कि कामदेव उस केतकी के पुष्पों का आश्रय लेकर ही वियोगियों का प्राणान्त कर देता है अथवा उनके धैर्य को भंग कर उनके हृदय को विदीर्ण किया करता है[2] ।उसके

---

१ विवेश गत्वा स विलासकाननं ततः क्षणात्क्षोणिपतिर्धृतीच्छया ।
प्रवालरागच्छुरितं सुषुप्सया हरिर्घनच्छायमिवार्णवोदरम् ॥ --नै० १।७६

२ विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवान्मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम् ।
दधानमाशासु चरिष्णु दुर्यशः स कौतुकी तत्र ददर्श केतकम् ॥
वियोगभाजां हृदि कण्टकैः कटुर्निधीयसे कर्णिशरः स्मरेण यत् ।
ततो दुराकर्षतया तदन्तकृद्विगीयसे मन्मथदेहदाहिना ॥
त्वदग्रसूचीसचिवेन कामिनीमनोभवः सीव्यति दुर्यशः पटीम् ।
स्फुटं स पान्थः करपत्रमूर्तिभिर्वियोगिहृद्दारुणि दारुणायते ॥

-- नै० १।७८, ७९, ८०

के अन्दर पराग भी उसे आनन्दित नहीं कर पाता[1]।

उद्यान में नल जिस ओर देखता है उसे उस ओर दमयन्ती या वियोगियों को स्मृति दिलाने वाले उपकरण ही दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँ तक कि कोकिल-कूजन, भ्रमर-गुंजार, स्थल-पद्मिनी, आम्र-मंजरियाँ, चम्पा के कुड्मल, नागकेसर-पुष्प तथा उन पर उड़ती हुयी भ्रमर पंक्ति, बिल्व-फल, पाटल-स्तबक, कोरकित-अगस्त्य, पुष्पों तथा लताओं को प्रकम्पित करने वाला वायु, रमणीय विवर तथा अशोक तरु आदि में से जिसे वह देखता है वह उसे वियोगियों को संताप पहुँचाने वाला अपकारी उपकरण प्रतीत होता है[2]।

उस उपवन में भ्रमण करते हुये नल को यद्यपि फल युक्त वृक्ष, विलासवापी की मंजु तरंगें, कोकिल-कूजन, मयूर-नर्तन, शुक-सारिका-गान तथा वन में व्याप्त सुगन्धि आदि कुछ प्रिय लगी तथा उन्होंने उसका यत्किंचित मनोरंजन भी किया। परन्तु दमयन्ती की स्मृति से युक्त होने के कारण उसे आन्तरिक शान्ति नहीं मिल सकी[3]।

---

१ अमन्यताऽसौ कुसुमेषु गर्भगं परागमन्धङ्करणं वियोगिनाम् ।
स्मरेण मुक्तेषु पुरा पुरारये तदङ्गभस्मेव शरेषु सङ्गतम् ॥
-- नै० १।८७

२ पिकाद्वने शृण्वति भृङ्गहुङ्कृतैर्दशामुदञ्चत्करुणे वियोगिनाम् ।
अनास्थया सूनकरप्रसारिणीं ददर्श दूनः स्थलपद्मिनीं नलः ॥
अशोकमर्थान्वितनामताशया-गतान्शरण्यं गृहशोचिनो जनान् ।
अमन्यतावन्तमिवैष पल्लवैः प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम् ॥
-- वही १।८८, १०१

३ विलासवापीतटवीचिवादनात् पिकालिगीतेः शिखिलास्यलाघवात् ।
वनेऽपि तौर्यत्रिकमारराध तं क्व भोगमाप्नोति न भाग्यभाग्जनः ॥
[illegible] वृक्षा विमुग्धाः [illegible] ।
स्वरामृतेनोपजगुश्च शारिकास्तथैव तत्पाठितगीःशुकावलिः ॥
[illegible] वनं पिकोपगीतोऽपि शुकस्तुतोऽपि च ।
अविन्दतामोदभरं बहिश्चरं विदर्भसुभ्रूविरहेण नान्तरम् ॥
-- वही १। १०२, १०३, १०४

इस समस्त प्रकरण में दमयन्ती आलम्बन है । उपवनगत वृक्ष, लताएं, फल, पुष्प, भ्रमर गुंजार कोकिल कूजन आदि उद्दीपन विभाव है । नल के द्वारा कल्पित लता पुष्पादिकों के कार्य तथा उन कार्यों के लिये नल के द्वारा की गई उनकी निन्दा, तद्गत संताप, अधृति, कम्प, नेत्र-निमीलन, तथा इतस्ततः भ्रमणादि अनुभाव है । भय, जुगुप्सा, स्मृति, औत्सुक्य विषाद तथा उन्मादादि भावों से परिपुष्ट रति स्थायी-भाव व्यंग्य है । व्यक्त रति स्थायी-भाव चूंकि समागम पूर्ववर्ती एवं विरह-कालिक है तथा रति स्थायी भावाभिव्यंजक तद्गत अधृति, संताप तथा उनके राजकार्य-परित्याग आदि व्यापार तद्गत स्मृति कामदशा के सूचक हैं । अतः उपर्युक्त रति स्थायी-भाव को स्मृत्यवस्थात्मक पूर्वराग विप्रलम्भ शृङ्गार के नाम से अभिहित किया जाएगा ।

गुणकीर्तन अवस्था -

अंगादिकों से उसकी समानता कोई नहीं कर सकता इस प्रकार के वाक्यों से अपने इष्ट का गुणानुवाद करना दूती आदि के समान इष्ट के गुणों का वर्णन करते हुये शरीर को कम्पित करना, तथा स्वेदादि का अपमार्जन आदि लक्षण गुणकीर्तन अवस्था के द्योतक होते हैं[1] ।

नाट्यशास्त्र में 'उत्कुकनैः' के स्थान पर 'उत्कथनैः' इस पाठभेद को भी उद्धृत किया गया है । इस पाठ-भेद के अनुसार आलम्बनगत उत्कण्ठापरक उसके वाक्यों को भी गुणकथनावस्था का द्योतक कहा जाएगा ।

श्रीहर्ष ने क्रम-प्राप्त दमयन्तीगत गुणकथनावस्था की संकोच में ही योजना की है । दमयन्ती हंस के बार-बार आग्रह करने पर भी लज्जा का परित्याग कर अपने अभीष्ट को स्पष्ट शब्दों में नहीं कहती । परन्तु हंस के द्वारा आशंकित किसी अन्य व्यक्ति के साथ उसके पाणिग्रहण की संभावना उसे लज्जा का परित्याग करने के लिये विवश कर देती है । वह पहले तो हंस के द्वारा आशंकित नल--भिन्न

---

१ ना० शा० २२। १७६-१८८

व्यक्ति के साथ अपने परिणय की संभावना का निराश करती है। तदनन्तर अपने काम्य नल के अनुपमेय गुणों की ओर संकेत करते हुये उसके प्रति अपने संकल्प को प्रकट कर देती है[1]।

नल के अप्रतिम सौन्दर्य की ओर संकेत करते हुए दमयन्ती के द्वारा हंस के सम्मुख किया गया अपनी उत्कण्ठा का निवेदन नलगत गुणकथनावस्था का द्योतक है। यहाँ पर नल आलम्बन विभाव है। हंस के द्वारा कीर्तित नल के गुण तथा हंस की आशंका उद्दीपन विभाव है। दमयन्ती के द्वारा किया गया अपनी अभिलाषा का निवेदन तथा नलगुण-कीर्तन आदि अनुभाव है। औत्सुक्य, धृति तथा स्मृति आदि व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट दमयन्तीगत रति स्थायी-भाव व्यंग्य है। इसे दमयन्ती के गुणकथनावस्था से युक्त होने के कारण गुणकथनावस्थात्मक पूर्वराग विप्रलम्भ शृङ्गार के नाम से अभिहित किया जायेगा।

श्रीहर्ष ने नलगत गुणकीर्तनावस्था की भी संक्षेप में योजना की है। हंस के मुख से दमयन्ती सौन्दर्य-वर्णन सुनने के अनन्तर जब नल देखता है कि हंस दमयन्ती की प्राप्ति में सहायता करने के लिये भी सन्नद्ध है तो वह दमयन्ती के अलौकिक सौन्दर्य के बारे में अपनी अभिलाषा का निवेदन करते हुये उसके सामने अपनी विरह व्यथा को प्रकट करने लगता है[2]।

---

१ तदेकलुब्धे हृदि मेऽस्ति लब्धुं चिन्ता न चिन्तामणिमप्यनर्घ्यम् ।
चित्ते: ममैक: कलाभिलाषी विधि: पद्मभुव: स एव ॥
-- नै० ३।८१

२ श्रवः: श्रुतिमानसैव या मिताम्भालसतीर्थ्यांगिनम् ।
अतुला तव धीशिवेन तु स्वगुणेनाधिगतात्मेति तावु ॥
अमितं मधु तत्कथा मम श्रवणप्राघुणकीकृता जनैः ।
मदनानलबोधने भवेत् खग ! धाय्या धिगधैर्यधारिणः ॥
-- वही २।५४,५५

यहाँ पर दमयन्ती आलम्बन विभाव है । हंस के द्वारा कीर्तित दमयन्ती गुण तथा नल से दमयन्ती की प्राप्ति कराने के लिये कहे गए उसके पूर्ववर्ती वचन उद्दीपन विभाव हैं । नल का दमयन्ती के गुणों की ओर संकेत करना तथा अपनी वियोग व्यथा का निवेदन करने लगना अनुभाव है । औत्सुक्य तथा स्मृति आदि व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट रति स्थायीभाव व्यंग्य है । रति स्थायी भाव का आश्रय नल रतिभाव के प्राधान्येन व्यंजक तथा कामदशा सूचक दमयन्ती-गुण-वर्णन तथा विरह-व्यथा-निवेदनादि से युक्त है । अतः दमयन्ती विरह कालिक नलगत रति स्थायीभाव को गुणकथनावस्थात्मक पूर्वराग विप्रलम्भ शृङ्गार के नाम से अभिहित किया जायगा ।

उद्वेग अवस्था --

उद्वेगावस्था युक्त व्यक्ति अशान्त रहने के कारण बैठने तथा सोने में भी सन्तोष नहीं अनुभव करता है । वह सर्वदा अभिलषित व्यक्ति का समागम प्राप्त करने के लिये उत्सुक रहता है तथा सर्वदा चिन्ता, निःश्वास, खिन्नता, संताप एवं रुदनादि से ग्रस्त रहता है --

आसने शयने वापि न तुष्यति न तिष्ठति ।
नित्यमेवोत्सुका च स्यादुद्वेगस्थानमाश्रिता ॥
चिन्तानिःश्वासखेदेन हृत्तापाभिनयेन च ।
कुर्यादेवमत्यन्तमुद्वेगाभिनयेन च ॥[1]

श्रीहर्ष ने क्रम-प्राप्त उद्वेगावस्था की ओर भी केवल संकेत मात्र कर दिया है । हंस को अपनी विरह-व्यथा से परिचित कराने के लिए दमयन्ती के द्वारा भी उन्होंने लघुतर उद्वेगावस्था की ओर संकेत करा दिया है ।[2]

---

१ ना० शा० २२ । १८१-१८२

२ [illegible] वपुः ।
[illegible] ॥
-- नै० ३।८२

दमयन्ती के द्वारा निवेदित तद्गत मोह एवं चिन्तनादि उद्वेगावस्था के द्योतक हैं । यहाँ पर नल विभाव है । दमयन्ती का निवेदन अनुभाव है । औत्सुक्य, चिन्ता तथा स्मृति आदि व्यभिचारी भावों परिपुष्ट दमयन्ती-गत विरह-कालिक रति स्थायी भाव व्यंग्य है । दमयन्ती के उद्वेगावस्था पूर्वराग विप्रलम्भ शृङ्गार के नाम से अभिहित किया जायगा ।

नलगत उद्वेगावस्था का भी श्रीहर्ष ने नल के द्वारा संक्षेप में निवेदन करा दिया है । हंस के सम्मुख[1] अपनी विरह व्यथा का निवेदन करते हुये वह स्वगत उद्वेगावस्था को प्रकट कर देता है ।

यहाँ पर नल के द्वारा निवेदित तद्गत संतप्तता, अधैर्य तथा औत्सुक्य आदि उद्वेगावस्था के सूचक हैं और वे ही नलगत रति स्थायीभाव के प्रधान व्यंजक हैं । अतः दमयन्ती विरह कालिक उपर्युक्त प्रकरणगत रति स्थायी भाव को उद्वेगावस्थात्मक पूर्वराग विप्रलम्भ शृङ्गार के नाम से अभिहित किया जायगा ।

प्रलाप अवस्था -

प्रलापावस्था युक्त व्यक्ति अपने इष्ट से सम्बन्धित बातें करता है । औत्सुक्यवश अत्यधिक उद्विग्न होकर अधैर्य से विलाप करने लगता है तथा इधर-उधर भ्रमण करने लगता है --

इह स्थित इहासीन इह चोपगतो मया ।
इति तैस्तैर्विलापैर्विलापं संप्रयोजयेत् ।।
उद्विग्नात्यर्थमौत्सुक्यादनुत्था च विलापिनी ।
ततस्ततश्च भ्रमति विलापस्थानमाश्रिता ।।[2]

---

१ विफल मत्वाकितच्छोऽपि भुजकारणमी ममोचितः ।
अत । खलचञ्चुनिम्नः नलगतहितोत्कण्ठया ।।
प्रतिपालकवान् विधापतिः अत । संस्कारितवह्निमापितम् ।
किमु जीवितरक्षकः कौशलं नाहास्य न वैरिभिः : ।।
-- नै० २।५७,५८

२ ना० शा० २२। १८३, १८४

श्रीहर्ष ने क्रम-प्राप्त दमयन्तीगत व्याधि अवस्था की योजना भी की है। एक सखी की इस चेतावनी को सुनकर कि उसका हृदय अपहृत हो गया है। दमयन्ती यह समझ लेती है कि उसका प्रिय नल उसके हृदय से दूर हो गया है। इस विचार के आते ही उसका आलम्बन छिन्न-भिन्न हो जाता है और वह मूर्छित हो जाती है।[1]

यहाँ पर भी नल आलम्बन विभाव है। सखी की चेतावनी उद्दीपन विभाव है। दमयन्ती का भ्रम तथा उसकी मूर्छा आदि अनुभाव है। चिंता, ग्लानि, औत्सुक्य, मोह तथा आवेग आदि व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट समागम पूर्वकालिक दमयन्तीगत रति स्थायीभाव व्यंग्य है।

मरण --

ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष साहित्य मीमांसा का कोई ग्रन्थ सामने रखकर यह वर्णन और तदनुसार वियोगावस्था की सभी दशाओं का क्रमिक चित्रण कर रहे हैं। यहां तक कि अन्त में दसवीं अवस्था का भी उल्लेख कर देते हैं। रस विच्छेद के भय से कविगण मरण का वर्णन नहीं करते हैं पर श्रीहर्ष ने भी उसे याद कर लिया और आकाश कुसुम ही रखा।[2]

----

१ स्फुटति हारमणौ मदनोष्मणा हृदयमप्यनलङ्कृतमद्य ते ।
सखि ! हतास्मि तदा यदि हृद्यपि प्रियतमः स मम व्यवधापितः ।।
इयमुदीर्य तदैव मुमूर्छ सा मनसि मूर्छितमन्मथपावका ।
क्व सहतामवलम्बलवच्छिदामनुपपत्तिमतीमतिदुःखिता ।।
-- नै० ४ । १०९, ११०

२ अव्याप्तदग्धदहनादुदितैरथैः पञ्चेषुबाणैः पुष्पशिखासु ।
दहतु देहं अहू तदा या सा मनः पुष्पसु कोमलेन ।।
-- वही ४ । ११४

मूर्छा -

> गत द्वियोगाग्निदुराजिताराधस्यकुर्मज्याति निःसत्त्वः ।
> मूर्च्छाभियद्वोपमवान्सवङ्के हा हा महोमूलमङ्गलोऽस्तु ॥[१]

मृति :-

> सख्यापद्यव्यत्ययकाड्गुहितकी:
> पञ्चेषुबाणैः कृतावितासु ।
> यस्यासु हेम्ना खलु सखा या
> तथा मनः पुष्यतु कौरवेण ॥[२]

प्रस्तुत रतिवासनाभिव्यंजक पद्य की उपर्युक्त छंद के द्वारा वर्णित वियोग अवस्था को भी पूर्वराग विप्रलम्भ शृङ्गार के नाम से अभिहित किया जायगा । क्योंकि प्रस्तुत उपर्युक्त वियोग अवस्था समागम-पूर्ववर्ती होने के साथ-साथ प्रस्तुत रति-वासनाभिव्यक्ति का प्रधान हेतु है । और समागम पूर्ववर्ती कामदशाओं की पूर्व-रागात्मकता पर हम विचार कर चुके हैं ।

समागमोत्तर-कालिक विप्रलम्भ भेद -

समागमोत्तर कालिक विप्रलम्भ भेदों को हम नायक नायिकाओं के अवस्थान के आधार पर चार भागों में विभाजित कर चुके हैं । जिनमें से एक देशावस्थान-कालिक विभाग में विरह तथा मान नामक विप्रलम्भ भेदों को स्थान दिया गया है । श्रीहर्ष ने नैषध में इन दोनों भेदों की योजना की है ।

विरह --

एक बार नायक-नायिकाओं का समागम हो जाने के उपरान्त एक स्थान पर उन दोनों के स्थित होते हुये भी परतन्त्रता, दैवप्रतिबन्धकता अथवा गुरुजनों

---

१ नै० ३ । ११३

२ वही ७३। ११४

इस प्रकार अनेक बार आलिंगन-जन्य सुख का अनुभव करने के उपरान्त पुन: उसे न प्राप्त होता हुआ देखकर दमयन्ती तो येन-केन प्रकारेण अपने भवन को चली जाती है। परन्तु नल वहीं पर चिरकाल तक भटककर तड़पता रहता है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त प्रसंग में श्रीहर्ष ने नल-दमयन्ती दोनों को ही एक-दूसरे के आलिंगन-जन्य सुख की प्राप्ति कराकर पुन: पुन: उन्हें एक दूसरे से पृथक् कर दिया है। और पृथक् हो जाने के उपरान्त दोनों को ही पुन: आलिंगनादि प्राप्त करने के लिए उत्कण्ठित प्रदर्शित किया है। नल दमयन्ती की यह उत्कण्ठा एक देश में ही स्थित होते हुये भी दैव-प्रतिबन्धकतावश पूर्ण नहीं हो पाती और नल तथा दमयन्ती दोनों ही अपने को एक दूसरे से वियुक्त अनुभव करते रहते हैं। अत: एक स्थान पर स्थित होते हुये भी दैव-प्रतिबन्धकतावश एक-दूसरे का समागम न प्राप्त कर पाने के कारण परस्पर वियुक्त-बुद्धि-युक्त नल दमयन्ती उभयगत रति वासना को जोकि उपर्युक्त प्रकरण से अभिव्यक्त होती है विरह विप्रलम्भ शृङ्गार के नाम से अभिहित किया जायगा।

यहां पर नल दमयन्ती दोनों ही आलम्बन विभाव हैं। नलदमयन्तीगत प्रेम उत्कण्ठा तथा आलिंगन को प्राप्त करने के लिये उनके द्वारा की गई चेष्टायें अनुभाव हैं। औत्सुक्य, चपलता, मोह तथा चिन्ता आदि व्यभिचारीभावों से परिपुष्ट नल दमयन्ती उभयगत रति स्थायीभाव व्यंग्य है।

प्रणयमान -

मान विप्रलम्भ शृङ्गार का स्वाधीनावल्लभ-नायिका विशिष्ट भेद होता है। प्रणय तथा ईर्ष्या-जन्य कोप को मान विप्रलम्भ के नाम से अभिहित किया

---

१ देवमाय वा वैदर्भीबिम्बीभवनाभावोऽप मोहोऽप मुहुर्धमाना ।
पुन: पुनस्तेन पुर: स पश्यन् तत्राप तां कुसुमकुलमेण ॥
-- नै० ६।५६

गया है[1]। कोप के हेतु-भूत उपर्युक्त प्रणय तथा ईर्ष्या को आधार मानकर इसको दो भागों में विभाजित कर दिया गया है। इन दोनों भागों में प्रणयमान नायकगत, नायिकागत तथा उभयगत तीन प्रकार का होता है[2]। विश्वनाथ के अनुसार प्रणयमान कालिक कोप किसी कारण पर नहीं आधारित होता[3] परन्तु वस्तुतः प्रणय-कालिक कोप भी किसी न किसी सामान्य कारण पर अवश्य आधारित होता है। पूर्णतया अकारण-जन्य वह नहीं होता। क्योंकि किसी कारण के बिना कोप उत्पन्न कैसे हो सकता है।

श्रीहर्ष ने नैषध में उपर्युक्त तीन प्रकार के प्रणयमानों में से केवल नायिकागत प्रणयमान की ही योजना की है। नल प्रातःकालिक भ्रमण करने के उपरान्त जब अपने भवन में पहुंचता है तो दमयन्ती प्रसन्नतापूर्वक उसका स्वागत करती है। यद्यपि नल ने देखा कि दमयन्ती के मुख पर उसका स्वागत करने के चिह्न स्पष्ट लक्षित हो रहे हैं[4]। परन्तु वह उसके इस स्वागत की ओर ध्यान न देकर उसी समय शेष दैनिक विधियों को सम्पन्न करने के लिए दमयन्ती से अनुमति मांगने लगता है[5]। दमयन्ती नल के इस प्रस्ताव का कोई उत्तर न देकर रुष्ट हो जाती है और वह अपमानित सी होकर अपनी एक सखी के पास चली जाती है[6]।

---

१ मानः कोपः स तु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भवः । -- सा० द० ३ । १९८
२ द्वयोः प्रणयमानः स्यात्प्रमोदे सुमहत्यपि ।। -- सा० द० ३। १९८

३ प्रेम्णः कुटिलगामित्वात्कोपो यः कारणं विना । - सा० द० ३। १९९

४ स भुक्तवासरं तस्या भवने भवनेऽभवत् ।
पुष्पधन्वाभिनीतेनारविन्दनीरविन्दवत् ।। -- नै० २० ।२

५ प्रेयसाऽथादि सा तस्मिन् स्वदास्यङ्गमनिष्णुना ।
ममाध्वना विधिः शेषः कर्तुमस्तीति पेशले ।।
-- वही २० ।६

६ अवेक्षावाङ्मनोऽमर्षाभिरेखिर्षे विभिरेव से ।
इति तं भगवान् रीणा नवाभिनवमान सा ।।
सा पतीनाथ सा रात्रः सखीं प्रभुसुतीमगात् ।
तन्मौः सुखोनारावाराकम्बोधिनीमिव ।।
-- वही २० । ७, ८

प्रात:कालिक विधियों को पूर्ण कर नल जब वापस आता है तो वह दमयन्ती की आँखों को पीछे से बंद कर लेता है। दमयन्ती किसी सखी की सम्भावना से उस सखी को पहचान लेने का निवेदन करने जा रही थी कि वह नल के स्पर्श को पहचान जाती है। अतएव वह अपने वाक्य को न पूर्ण कर मौन हो जाती है।[1]

नल के प्रस्ताव को सुनकर दमयन्ती का मन से रुष्ट हो जाना नल के पास से अपनी सखी के पास चला जाना, नल के हाथों को अपने नेत्रों पर से हटा देना तथा उसका मौन हो जाना तद्गत कोप के सूचक लक्षण हैं। नलदमयन्ती की उत्सुकता की ओर ध्यान न देकर सन्ध्योपासनादि के लिये चला गया था। इसीलिये दमयन्ती उस पर कुपित हो गई थी। अतएव दमयन्ती का यह कोप किसी विशेष कारण पर आधारित न होकर सामान्य कारण जन्य ही था।

विश्वनाथ कविराज की इस टिप्पणी के अनुसार प्रणयमान तथा उस मान को शान्त करने के लिये किये गये उपाय इन दोनों की समन्वित योजना को ही प्रणयमान के नाम से अभिहित किया जा सकता है —

अनुनयपर्यन्तावस्थत्वे त्वस्य न विप्रलम्भ भेदता, किन्तु संभोगसंचार्याख्यभावत्वम्[2]।

विश्वनाथ की इस टिप्पणी के अनुसार प्रणयमान तथा उस मान को शान्त करने के लिये किये गये उपाय इन दोनों की समन्वित योजना को ही प्रणय मान के नाम से अभिहित किया जा सकता है।

---

१ क्रियां प्राभातिकीं कृत्वा निमेषयन् पाणिना स्त्रीम्।
कराभ्यां पृष्ठलग्नस्या न्यमीलयदसौ दृशौ ॥
सखि ऽऽ लि। त्वमित्यर्धोक्तिका पाणिमोचनात्।
आलत्प्रत्यभिज्ञा मौनाम्भे मानवेदिनी ॥
— नै० २० ।११, १२

२ सा० द०, पृ० ११०

मान को शान्त करने वाले निम्नलिखित उपाय होते हैं --

साम चोपप्रदानं च भेदो दण्डस्तथैव च ।
उपेक्षा चैव कर्तव्या नारीणां विभयं प्रति ॥[1]

विश्वनाथ कविराज ने रसान्तर नामक एक अन्य उपाय का भी निर्देश किया है । धनंजय ने भी रसान्तर उपाय को स्वीकार किया है[2] ।

यह सभी उपाय सभी प्रकार के मान को शान्त करने के लिये व्यवहार में नहीं लाए जाते । भरत के अनुसार नायिकाओं के अनुराग तथा विराग को जानकर ही इन उपायों का अवलम्ब लेना चाहिए । उपेक्षा उपाय का प्रयोग तो तब तक नहीं करना चाहिए जब तक कि सभी सामादिक उपाय निष्फल न हो गए हों[3] ।

भरत के अनुसार जिस नायिका का कोप बहुत अधिक तीव्र न हो अर्थात् जो कुछ कुछ रोष कर रही हो उस नायिका के कोप को साम उपाय के द्वारा शान्त करना चाहिए :

मध्यमक्रोधा मानवेक्षकाम्या --[4]

---

१ ना० शा० - २३ ।६५

२ सा० द० - ३ । २०९

द० रू० - ४।६९

३ भावाभावौ विदित्वाथ तथा लोकोपचारतः ।
गुणागुणपरिज्ञानात् कामतन्त्रं समीक्ष्य तु ॥
सामादीनां प्रयोगे तु परित्यागेऽपि यथाक्रमम् ।
न स्यात्सा च अनायत्ता तामुपेक्षेत बुद्धिमान् ॥
-- ना० शा० २३।६४,७२

४ ना० शा० २३ ।६६

श्री हर्ष ने दमयन्ती के मान को साम उपाय के द्वारा शान्त कराने का प्रयत्न किया है। नल को यह ज्ञात था कि दमयन्ती के रोष का क्या कारण है। अत: वह दमयन्ती से स्पष्ट कह देता है कि जिस तपस्या के फल पर उसने उसे प्राप्त किया है उस तपस्या को वह कैसे परित्याग कर सकता है[1]। परन्तु दमयन्ती इसलिये रुष्ट हो गयी थी कि सम्पूर्ण रात्रि साथ बने रहने के उपरान्त प्रात:काल उसने उसकी वन्दना नहीं की तो उसके लिये वह तत्काल ही तैयार हो जाता है --

निशि दास्यं गतोऽपि त्वां स्नात्वा सन्ध्याम्युपासिषम् ।
तं प्रसूधादि मन्तुं मे मन्तुं सहस्व यदि मन्यसे ।।[2]

नल इतना कहकर अपने हाथों को दमयन्ती के पैरों के पास ले ही जा रहा था कि दमयन्ती उसे रोककर कटाक्षों से मोह लेती है[3]।

दमयन्ती के कटाक्षों से मोहित नल उसके कटाक्ष, रोष, मुख तथा वाणी आदि की प्रशंसा करने लगता है और शय्या पर स्वयं बैठकर तथा दमयन्ती को अपनी अंकपाली में बिठाकर विरह-जन्य खेद को दूर करने के लिये दमयन्ती का आलिंगन करने लगता है। दमयन्ती का क्रोध तो नल को प्रणाम करने के लिये उद्यत हो जाने से दूर हो गया था। परन्तु नल का आलिंगन उसे लज्जित सा बना देता है

---

१ वाऽपादि मुकुलत्वेन कोपस्ते भावमोचितो ।
त्वां प्राप्यं यत्प्रसादेन प्रिये । सन्ध्याप्रिये तप: ।।
-- नै० २० ।१४

२ नै० - २० ।१५

३ इत्येतस्या: पदाब्जस्य पर्येण प्रेरितौ करौ ।
रुद्ध्वा कोपं सं कटाक्षैरमुग्ध ।।
-- वही २० ।१६

और जब नल को चुम्बन करने तक से मना नहीं करती[१]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री हर्ष ने उपर्युक्त दमयन्तीगत मान के अव्यवहित अनन्तर में उसके मान को शान्त करने के लिये नल के द्वारा साम उपाय का प्रयोग कराकर तथा नल के अनुनय विनय के उपरान्त दमयन्ती के मान को शान्तकर दमयन्ती के कोप को प्रणयमान विप्रलम्भ का स्वरूप प्रदान कर दिया है।

मान के अवसर पर नायक तथा नायिका दोनों ही अपने को वियुक्त अनुभव किया करते हैं। जब तक नायिका या नायक मान युक्त रहते हैं तब तक वे अपने को वियुक्त अनुभव करते हैं। परन्तु जब मान का आलम्बन मान को शान्त करने का प्रयत्न करने लगता है तो शनै: शनै: उनका यह अनुभव परिवर्तित होने लगता है और मान के शान्त हो जाने पर तो वियुक्त बुद्धि संयोगानुभूति में परिणत हो जाती है। इसलिये जब तक दमयन्ती मान युक्त रहती है तब तक तो वह खिन्न ही रहती है। परन्तु नल के अनुनय विनय करने पर वह नल के आलिंगन पाश में ही नहीं बंध जाती अपितु स्मित युक्त तक हो जाती है।

उपर्युक्त प्रकरण में नल आलम्बन विभाव है। नल का दमयन्ती की उत्सुकता की अवहेलना कर देना तथा सन्ध्योपासनादि के लिये दमयन्ती के पास से चला जाना आदि उद्दीपन विभाव है। दमयन्ती का मन से रुष्ट हो जाना, मौन

---

१ पूर्वशैलतटिकल्पनिष्कुरदन्तुरा तम् ।
कण्ठगे च पर्यङ्कशङ्कुकशङ्कुकमिताप्रिय: ॥
प्राकुडारभ्यणाभ्योद: स्निग्धां वाचिव च प्रियाम् ।
परिरभ्य चिरायास विकेशाथावनुश्रुती ॥
चुचुम्बाऽऽस्यमसौ तस्या रभसेन: स्मितस्मितम् ।
क्रोधानिद्रिताम्भोधं मुकुलत्वानुविद्धित: ॥
— नै० २०।२४, २५

नल-दमयन्ती में से किसी को न तो प्रवासी बनाया है और न उन्हें कोई नैषध में शापित ही करता है। नल-दमयन्ती में से किसी की मृत्यु की ओर भी उन्होंने संकेत नहीं किया है। अत: विप्रलम्भ शृङ्गार के उपर्युक्त प्रवासादि भेदों के सद्भाव का नैषध में प्रश्न ही नहीं उठता।

निष्कर्ष रूप में श्रीहर्ष की विप्रलम्भ योजना के विषय में डा० रविदत्त पाण्डेय जी के शब्दों में यही कहा जा सकता है कि "श्रीहर्ष विप्रलम्भ शृङ्गार की योजना करने में पूर्ण सफल हैं। नैषधगत- शृङ्गारात्मक प्रकरण विप्रलम्भानुभूति को जागृत करने में पूर्णतया समर्थ है। कोई भी संवेदनशील पाठक इन प्रकरणों का अध्ययन कर आत्मविभोर हुए बिना नहीं रह सकता।"[१]

-0-

---

१ नै० में रस योजना (डा० रविदत्त पाण्डेय), पृ० १४२

पञ्चम परिच्छेद

-0-

पौराणिक और ऐतिहासिक महाकाव्य

पञ्चम परिच्छेद

-o-

पौराणिक और प्रबन्ध महाकाव्य

कुमारसंभव महाकाव्य -

कालिदास की सच्ची निःसंदिग्ध रचना है। कुमारसंभव एक महाकाव्य है जिसमें प्रामाणिक दृष्टि से आठ सर्ग हैं क्योंकि मल्लिनाथ ने इन्हीं आठ पर टीका की है, शेष सर्ग प्रक्षिप्त माने जाते हैं। शृङ्गार प्रधान काव्य होने से रघुवंश की अपेक्षा विप्रलम्भ शृङ्गार का चित्रण इस महाकाव्य में अधिक है। बिना विरह के शृङ्गार रस न काव्य में चमत्कारी होता है न नाटक में। बिना विरह के मिलन में कोई आनन्दतत्व नहीं रहता।

'कुमारसंभव' नाम से स्पष्ट है कि कुमार की उत्पत्ति ही इस महाकाव्य का वर्ण्य विषय है। भविष्यवाणी के अनुसार शिव-पार्वती का पुत्र कार्तिकेय ही तारकासुर का निहन्ता तथा देवसेना का सेनापति था। कुमारसंभव काव्य का प्रधान रस शृङ्गार है। यद्यपि शिवगण द्वारा अभ्यर्थी पूजन आदि प्रसंगों में कहीं वीरता की व्यंजना है किन्तु ऐसे प्रसंगों का प्रायेण अभाव है और प्राधान्य शृङ्गाररस का ही है। इस काव्य में कालिदास की आध्यात्मिक विचारधारा छिपी है।

कुमारसंभव महाकाव्य में शृङ्गार का विप्रलम्भ पक्ष पहले आता है सम्भोग बाद में। विप्रलम्भ के पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण इन चारों प्रकारों में इस महाकाव्य का विप्रलम्भ शृङ्गार पूर्वराग एवं करुण विप्रलम्भ प्रकार का है।

कुमारसंभव महाकाव्य के तृतीय सर्ग में पार्वती जी अपनी तपस्या के द्वारा शिवजी से प्रेम-अनुराग उत्पन्न कर देती है। पार्वती जी अपने शारीरिक

सौन्दर्य के द्वारा शिवजी को प्रसन्न करना चाहती हैं। शिवजी समाधि से जागने पर एक भक्त के नाते माला पार्वती जी से ले लेते हैं[1] और उन्मत्त नेत्रों से पार्वती को देखते हैं[2] और पार्वती जी भी प्रेम दिखाती हुयी मुंह को एक तरफ कर खड़ी हो जाती हैं[3]।

यहीं से पार्वती जी के हृदय में शिवजी के प्रति स्वाभाविक प्रेम से उत्पन्न अभिलाष प्रारम्भ हो जाता है। शङ्कर के मन में एकाएक पैदा होने वाले रतिभाव का उत्तम वर्णन है।

कामदेव ने उसी समय अपना अचूक बाण शिवजी पर फेंकना चाहा कि शिवजी ने अपने तृतीय नेत्र से उसे भस्म कर दिया। उसी समय शिवजी को स्त्रियों के प्रति उदासीनता के भाव उमड़ आये और वह तुरन्त अन्तर्धान हो गये[4]।

---

१ प्रतिग्रहीतुं प्रणयिप्रियत्वात्त्रिलोचनस्तामुपचक्रमे च ।
संमोहनं नाम च पुष्पधन्वा धनुष्यमोघं समधत्त बाणम् ॥
— कु० ३।६६

२ हरस्तु किंचित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥
— वही ३।६७

३ विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥
— वही ३ । ६८

४ तमाशु विघ्नं तपसस्तपस्वी वनस्पतिं वज्र इवावभज्य ।
स्त्रीसंनिकर्षं परिहर्तुमिच्छन्नन्तर्दधे भूतपतिः सभूतः ॥
— वही ३ ।७४

यहाँ शिव पार्वती का वैवाहिक समागम नहीं हो पाता है । पार्वती जी अपने सखियों एवं माता-पिता के सम्मुख बहुत लज्जा का अनुभव करती हैं[1] ।

अतः कुमारसंभव महाकाव्य का तृतीय सर्ग अयोग शृङ्गार का उत्कृष्ट निदर्शन है । एक दूसरे का योग न होना ही अयोग है । अयोग वहाँ होता है जहाँ नवयौवन से युक्त, परस्पर अनुरक्त नायक-नायिका की प्रबल इच्छा रहने पर भी दूसरे अर्थात् माता-पिता आदि के अधीन रहने के कारण दैववश दूर रहने से मिलन नहीं हो पाता है[2] । पार्वती एवं शिव का दैववश ही समागम नहीं हो पाता है । यह अयोग पूर्वराग का ही एक प्रकार है ।

पार्वती जी के हृदय में अब शिवजी अधिष्ठित हो गये हैं । उनका विरह असह्य है । वियोग तो एक शृङ्गार बाधा है, दुःख की चरम परिधि है फिर भी उसमें एक मादक माधुर्य है, सरस आशा है, उन्मत्त उत्साह की उमङ्ग और स्वर्गीय सुख की सरस आनन्दानुभूति है । वियोगी बाहर से दग्ध और आतुर रहता है और उसके हृदयान्तराल में अपूर्व रस का संचय होता है[3] । पार्वती जी पिता हिमालय से आज्ञा लेकर तप करने के लिये हिमालय पर पहुंच जाती हैं । प्रेम वह सुदृढ़ कठोर भाव बंधन है जिसके साम्राज्य की अधीनता में समस्त भौतिक एवं आध्यात्मिक भाव आत्मविभोर और आत्मसमर्पित हो जाते हैं ।

---

१ शैलात्मजापि पितुरुच्छिरसोऽभिलाषं व्यर्थं समर्थ्य ललितं वपुरात्मनश्च ।
सख्योः समक्षमिति चाधिकजातलज्जा शून्या जगाम भवनाभिमुखी कथंचित् ॥
— कु० ३ । ७५

२ अयोगोऽनुरागेऽपि नवयोरेकचित्तयोः ।
पारतन्त्र्येण दैवाद्वा विप्रकर्षादसङ्गमः ॥
— द० रू० ४ ।५०

३ देवकृत रस-अनुचिन्तन, पृ० १२०

यद्यपि शाकुन्तल भी दुष्यन्त एवं शकुन्तला की प्रेम कथा ही है किन्तु कालिदास ने वहाँ प्रणय स्नेह तथा अनुराग शब्द का पुनः प्रयोग किया है किन्तु प्रेम शब्द का प्रयोग नहीं किया । रघुवंश में केवल एक स्थल पर --[1]

रथाङ्गनाम्नोरिव भावबन्धनं बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम् ।

शंकर पार्वती प्रेम का आदर्श है, इसीलिये कालिदास ने प्रेम शब्द का प्रयोग किया है । अतः सिद्ध होता है कि कालिदास की दृष्टि में प्रेम शब्द का प्रयोग अलौकिक सामान्य स्नेह अथवा अनुराग का आदर्श है ।

अतएव, यह स्पष्ट है कि प्रणय की मादक मन्दाकिनी में आकण्ठ निमग्न होने के लिये कालिदास रूप वैभव के प्रत्यक्ष आकर्षण को अन्तिम महत्व नहीं देते हैं । 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में दुर्वासा के अभिशाप की योजना का यही संकेत किया गया है । गेटे ने शकुन्तला को भी 'वसन्त के फूल और ग्रीष्म के फल' तथा 'पृथ्वी और स्वर्ग' के सम्मिलन का प्रतीक बताया है, उसमें हमारे पुरुष-कलाकार की महनीय दृष्टिकोणों की स्वीकृति मिली है । 'कुमारसंभव' भी इसी स्वर्गिक सुषमा एवं भौतिक विलास सुषमा के अंत का अव्यक्त स्मारक है[2] । पार्वती अपने सौन्दर्य को भरपूर कोसती है क्योंकि रूप यौवन की सार्थकता प्रिय को मोह लेने में ही है[3] ।

वियोग ही प्रेम की कसौटी है । जिसका प्रेम विरहाग्नि में तपकर खरे सोने की तरह चमकता रहता है, फिर कभी भाग्यवशात् मिलने पर जिसका प्रेम हीरे की भांति और भी अधिक चमकने लगता है, वही सच्चा प्रेमी है । प्रिय की प्राप्ति की अभिलाषा एवं संकल्प के कारण पार्वती को भी कष्ट की कोई चिन्ता नहीं है क्योंकि वियोग की अग्नि में तपकर स्नेह की मलिनता नष्ट जाती है

---

१ रघु० ३। २४

२ महाकवि कालिदास (रमाशंकर तिवारी), पृ० ५७

३ निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ॥
-- कु० ५। १

सार्थकता भी है । कुसुम से भी कोमल और वज्र से भी कठोर का पाणिग्रहण भारतीय कवि किसी महनीय उद्देश्य के निमित्त ही सम्पन्न किया करते हैं । सूर्य की किरणों से तपने के कारण भी पार्वती का मुख कमल के समान खिल उठा - केवल उनके दीर्घ नेत्रों की कोरों में ही कुछ कुछ सांवलापन आ गया था[1] ।

पारलौकिक शिवजी के प्रति उपर्युक्त पूर्वराग की कामनाओं की रति में शिवजी आलम्बन विभाव हैं, शिव प्राप्ति के लिये तपस्या उद्दीपन विभाव है, हार उतार देना, जटा रखना, मेखला धारण करना, उंगलियों में घाव कर लेना, [illegible] पर सोना और सूर्य की ओर देखना आदि अनुभाव हैं तथा चिन्ता, मनस्ताप, उग्रता, स्मृति, जड़ता संचारी भाव हैं । अतः पार्वती गत रति स्थायी भाव हो पूर्वराग के विप्रलम्भ शृङ्गार का हेतु है ।

ब्रह्मचारीवेश में छिपे हुये शंकर जी का पार्वती को एकटक देखना[2] [illegible] कठिन से उत्पन्न रति भावना का सूचक है । लाल-लाल ओठों से   की समानता ब्रह्मचारी के रति की उद्दीप्ति में सहायक है[3] । पार्वती के प्रति शिव का अनुराग सौन्दर्य आदि गुणों के कारण [illegible] कठिन एवं कठोर तपस्या के द्वारा ही उत्पन्न हो चुका लेकिन ब्रह्मचारी वेष में होने के कारण पार्वती को ज्ञात नहीं हो पाता है । किन्तु शिवजी की मनःस्थिति है कि आप मुझे पराया नहीं समझती[4]

---

१ तथातिशप्तं सवितुर्गभस्तिभिर्मुखं तदीयं कमलश्रियं दधौ ।
अपाङ्गयोः केवलमस्य दीर्घयोः शनैः शनैः श्यामिकया कृतं पदं ।।

—कु० ५।२१

२ विविक्तमुक्तां परिपृच्छ्य सत्क्रियां परिश्रमं नाम विनीय च क्षणम् ।
उमां स पश्यन्नृजुनैव चक्षुषा प्रचक्रमे वक्तुमनुज्झितक्रमः ।।

— वही ५। ३२

३ अपि त्वदावर्जितवारिसम्भृतं प्रवालमासामनुबन्धि वीरुधाम् ।
चिरोज्झितालक्तकपाटलेन ते तुलां यदारोहति दन्तवाससा ।। —कु० ५।३४

४ प्रयुक्तसत्कारविशेषमात्मना न मां परं संप्रतिपत्तुमर्हसि ।
यतः सतां संनतगात्रि संगतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते ।।

— वही ५ । ३९

से अनुराग उद्दीप्त हो रहा है। पार्वती जी का लम्बी सांस लेना शिवजी के प्राप्ति का सूचक है[1]। जटाओं का पीला होना,[2] सूखा हुआ शरीर, अंग का सूर्य की[3] किरणों में झुलस जाना और दिन के चन्द्रमा की रेखा के समान मुख का उदास होना आदि अनुभाव शिव के प्रति पार्वती जी के उत्कट अनुराग, तपस्या का सूचक है।

पार्वती की सखी के द्वारा ब्रह्मचारी से कथन पार्वती के पूर्वराग के कामदशाओं की सूचक है। स्मृति के कारण पार्वती पिता के घर प्रेम की पीड़ा से व्याकुल रहती, माथे पर पुते हुये चन्दन से बाल[4] भर जाने पर भी और शिला की पटरियों पर लेटे रहने पर भी उन्हें चैन नहीं मिलता है। शिव के प्रति पार्वती की स्मृति नामक कामदशा का वर्णन है।

---

१ निवेदितं निःश्वसितेन सोष्मणा मनस्तु मे संशयमेव गाहते ।
न दृश्यते प्रार्थयितव्य एव ते भविष्यति प्रार्थितदुर्लभः कथम् ॥

-- कु० ५ । ४६

२ अहो स्थिरः कोऽपि तवेप्सितो युवा चिराय कर्णोत्पलशून्यतां गते ।
उपेक्षते यः श्लथलम्बिनीर्जटाः कपोलदेशे कलमाग्रपिङ्गलाः ॥

-- वही ५। ४७

३ मुनिव्रतैस्त्वामतिमात्रकर्शितां दिवाकराप्लुष्टविभूषणास्पदाम् ।
शशाङ्कलेखामिव पश्यतो दिवा सचेतसः कस्य मनो न दूयते ॥

-- वही ५। ४८

४ तदाप्रभृत्युन्मदना पितुर्गृहे ललाटिकाचन्दनधूसरालका ।
न जातु बाला लभते स्म निर्वृतिं तुषारसंघातशिलातलेष्वपि ॥

-- वही ५ । ५५

का संकल्प 'मेरा मन तो उन्हीं में रम गया है जब किसी का मन किसी पर लग जाता है तब वह किसी के कहने सुनने पर ध्यान थोड़े ही देता है ।'[1] अत: पार्वती का मन शिव में अनुरक्त है ।

ब्रह्मचारी के मुख से शिवजी की अधिक निन्दा न सुन सकने के कारण 'स्तनभिन्नवल्कला'[2] पार्वती ने ज्योंही चलने के लिये आगे पैर बढ़ाया त्यों ही शंकर अपना प्रकृत स्वरूप धारण कर वहां उपस्थित हो गये और मुसकराते हुये उनका हाथ पकड़ लिया । पार्वती का अपने आराध्य पति या प्रिय की निन्दा न सुन सकना उनके गम्भीर प्रेम का परिचायक है जो उनकी अम्लान सौन्दर्य श्री का रहस्य है । इस अवसर पर कवि ने पार्वती की चकित मुद्रा की जो मूर्ति अंकित की है, वह उनकी मार्मिक सूझ, गहरे अनुभव तथा अलौकिक कल्पना पर मनोरम आलोक डालता है --'अचानक शंकर जी को देखकर पार्वती जी के शरीर में कंपकपी छूट गयी वे पसीने से तर हो गयीं, आगे चलने को उठाये अपने पैर को जहां का तहां रोक लिया, जैसे प्रवाह-पथ में पहाड़ आ जाने से नदी न आगे बढ़ पाती है और न पीछे हट पाती है उसी प्रकार पार्वती न आगे बढ़ पायी न खड़ी हो रहीं ।'[3] अभीष्ट वस्तु की आकस्मिक उपलब्धि से पार्वती की मनोभूमि में उत्पन्न 'कंपकपाहट' का भाव यहां अत्यन्त सुन्दर ढंग से चित्रित हुआ है । साक्षात दर्शन से उत्पन्न पार्वती का पूर्वराग है । महादेव जी को देखकर पार्वती

---

१ ममात्र भावैकरसं मन: स्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते ।।

-- कु० ५ । ८२

२ इतो गमिष्याम्यथवेति वादिनी चचाल बाला स्तनभिन्नवल्कला ।
स्वरूपमास्थाय च तां कृतस्मित: समाललम्बे वृषराजकेतन: ।।

-- वही ५ । ८४

३ तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि-
र्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती ।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धु:
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ।।

-- वही ५। ८५

का अभिलाष सूचित होता है । आलम्बन शिवजी, उद्दीपन अटपटी बातें, शरीर का काँपना, पसीना आना अनुभाव विभाव है और उद्वेग, चपलता संचारी भाव के योग से रति स्थायीभाव है ।

'किसी भी भाव का चित्रण करते समय कालिदास एक अनूठी शैली का उपयोग करते हैं । वे उसे स्पष्ट शब्दों में कहने की अपेक्षा व्यंजना वृत्ति का आश्रय ले उसकी ओर सूक्ष्म संकेत कर देना आवश्यक समझते हैं '[1] -- जिस समय अंगिरा ऋषि गिरिराज हिमालय से शंकर के लिये पार्वती की मंगनी की प्रार्थना कर रहे थे, उस समय पास में बैठी हुयी पार्वती की मानसिक दशा का मनोरम चित्रण किया है । कमल-पत्रों को गिनने[2] के वर्णन से पार्वती की सहज लज्जाशीलता, आभ्यन्तर प्रेम तथा आनन्दातिरेक के गोपन की प्रवृत्ति की बड़ी रुचिर एवं मार्मिक व्यंजना की है ।

उधर महादेव जी पार्वती समागम के लिये उत्कंठित हैं । जब उनको पता चलता है कि विवाह में तीन दिन का विलम्ब है उस समय की उत्कंठा पर कवि की यह टिप्पणी भी कितनी सच्ची एवं यथार्थ है -- 'जब शंकर जैसे देवाधिदेव की प्रेम में ऐसी दशा हो जाती है, तब भला दूसरे लोग अपने मन को कैसे संभाल सकते हैं ।'[3]
इस श्लोक में साक्षात दर्शन से उत्पन्न शिवजी का अभिलाष सूचित होता है ।

डा० जगन्नाथ पाण्डेय जी का कथन है कि 'कुमारसंभव में पार्वती तपश्चर्या से भगवान् शिव को वर रूप में प्राप्त करती है । कालिदास ने विशुद्ध प्रेम की

---

१ चन्द्र० पाण्डेय तथा व्यास - सं० सा० की रूप०, पृ० ९९

२ एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥
-- कु० ६। ८४

३ कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावा: ॥
-- वही ६ । ९५

प्रतिष्ठा की है । उसका आकर्षण बिन्दु है आध्यात्मिक सौन्दर्य । शिव आध्यात्मिक सौन्दर्य के प्रतीक हैं, उन्हें शारीरिक सौन्दर्य आकृष्ट नहीं कर सकता । पार्वती पहले अपने शारीरिक सौन्दर्य के द्वारा शिव को आकृष्ट करना चाहती हैं किन्तु वे सफल नहीं होतीं । भगवान शिव उनके सामने से ही अपने नेत्र की अग्नि से काम को जला देते हैं । तब वे अपने रूप को तपश्चर्या के द्वारा सफल बनाना चाहती हैं क्योंकि शिव अन्य उपाय से नहीं प्राप्त किये जा सकते । जब उनका शारीरिक सौन्दर्य विलीन हो जाता है, आध्यात्मिक सौन्दर्य का परिस्फुरण हो जाता है, तब भगवान शिव उनके दास हो जाते हैं और शिव और पार्वती का विवाह हो जाता है विशुद्ध प्रेम के आधार पर ।"[1]

कुमारसंभव महाकाव्य शृङ्गार-रस प्रधान काव्य होने के कारण इसमें रघुवंश की अपेक्षा विप्रलम्भ शृङ्गार का चित्रण अधिक है । पूर्वराग के साथ-साथ इस महाकाव्य में करुण-विप्रलम्भ शृङ्गार के उदाहरण भी अपनी चरम सीमा पर है । इस महाकाव्य का चतुर्थ सर्ग करुणरस के साथ करुण-विप्रलम्भ शृङ्गार का निदर्शन है । शिवजी के द्वारा कामदेव को भस्म कर देने पर रति अपना शरीर त्यागने को तत्पर हो जाती है उसी समय आकाशवाणी होती है कि --"हे सुन्दरी तुम अपने शरीर की रक्षा करो क्योंकि इसी के द्वारा भविष्य में होने वाले प्रिय समागम को प्राप्त करोगी । ग्रीष्म ऋतु में सूर्य द्वारा जल पी लेने पर नदी चाहे भले ही सूख जाये किन्तु वर्षा ऋतु में फिर वह जल से भर जाती है ।"[2]

इस श्लोक में आलम्बन कामदेव, उद्दीपन कामदेव का निष्क्रिय होना, अनुभाव रति विलाप स्थायी भाव रति एवं संचारी भाव मरण, रोदन, क्रन्दन है ।

---

१ संस्कृत कवि समीक्षा -- (अमरनाथ पाण्डेय), पृ० ३६

२ तदिदं परिरक्ष शोभने भवितव्यप्रियसंगमं वपुः ।

रविपीतजला तपात्यये पुनरोघेन हि युज्यते नदी ।।

-- कु० ४। ४४

यहाँ से करुण रस न होकर करुण विप्रलम्भ शृङ्गार हो जाता है क्योंकि डा० अमरनाथ पाण्डेय ने `बाणभट्ट का साहित्यिक अनुशीलन` नामक ग्रन्थ में करुण विप्रलम्भ को एक स्थान पर विभिन्न किया है उनकी दृष्टि में पहले प्रकार के लोग शृङ्गार तब मानते हैं, जब आकाशवाणी हो जाती है।`[1] इस दृष्टि से आकाशवाणी होने पर करुण विप्रलम्भ शृङ्गार ही कहीं करुण रस नहीं क्योंकि आलम्बन के नष्ट हो जाने पर आकाशवाणी के द्वारा रति पुनः आलम्बन की प्रतीक्षा कर रही है देखिये — `इसके अनन्तर पति वियोग से दुःखी अङ्गों वाली रति शाप की अवधि को समाप्त होने की उसी प्रकार प्रतीक्षा करने लगी जिस प्रकार दिन में निकले हुये चन्द्रमा की किरणों के अभाव में धुंधली और तेजोविहीन कला रात्रि के आगमन की प्रतीक्षा करती है।[2]

इस श्लोक में आलम्बन विभाव कामदेव, उद्दीपन आकाशवाणी सुनना, अनुभाव रति का शाप की अवधि का समाप्त होने की प्रतीक्षा करना, संचारी भाव स्मरण, ग्लानि, मरण।

उपर्युक्त विवेचन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कालिदास का विप्रलम्भ शृङ्गार उच्चकोटि का है। उनकी वरिष्ठता के विषय पर यह कथन कितना सुन्दर है कि प्राचीन समय में कवियों की गणना करते समय कालिदास को सर्वश्रेष्ठ कवि मानकर कनिष्ठिका पर रखा गया किन्तु बाद में उससे बड़ा तो क्या ; उससे किंचित् अवर कवि भी कोई नहीं मिला, फलतः दूसरी अंगुली का अनामिका नाम

---

१ बाणभट्ट का साहित्यिक अनुशीलन - पृ० १९९

२ अथ मदनवधूरुपप्लवान्तं व्यसनकृशा परिपालयांबभूव ।
शशिन इव दिवातनस्य लेखा किरणपरिक्षयधूसरा प्रदोषम् ॥
— कु० ४।४६

सार्थक हो रहा (अर्थात् जिस पर कोई नाम न आया हो) --

पुरा कविना गणनाप्रसंगे
कनिष्ठिकाधिष्ठित कालिदासः ।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका
सार्थवती बभूव ॥

"प्रेम के क्षेत्र में पार्वती और शकुन्तला की स्थिति लगभग एक ही है । ऐसा लगता है कि एक आदर्श मानवी प्रेमिका के रूप में पार्वती के चरित्र में जो न्यूनतायें रह गयी थीं उसका परिष्कार कालिदास ने शकुन्तला में कर दिया है ।"[1]

द्विसन्धान काव्य —

रामायण तथा महाभारत की कथा को एक साथ एक ही काव्य में प्रतिपादित करने की ओर कवियों का ध्यान विशेष आकृष्ट हुआ है । ऐसे प्रबन्ध काव्यों को दण्डी ने 'द्विसन्धान' काव्य नाम दिया है । धन जय का द्विसन्धान काव्य (अपर नाम राघवपाण्डवीय) इन्हीं काव्यों के इतिहास में प्राचीन होने के कारण महत्वपूर्ण माना जाता है । १८ सर्गों में निबद्ध यह काव्य श्लेष पद्धति से रामायण तथा भारत दोनों की कथाओं को एक साथ व्यक्त करता है । काव्य वीर रस प्रधान है किन्तु काव्य में शृङ्गार रस के बिना सौन्दर्य का अभाव पाया जाता है और जहाँ शृङ्गार रस होता वहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार अवश्य रहता है । महाभारत की कथा के चित्रण होने के कारण विप्रलम्भ शृङ्गार का चित्रण अल्प मात्रा में है । मान विप्रलम्भ एवं प्रवास विप्रलम्भ का चित्रण है । पूर्वराग एवं करुण विप्रलम्भ की कहीं चर्चा नहीं की गयी है ।

कोप का नाम 'मान'[2] है यह दो प्रकार का होता है एक प्रणय से उत्पन्न, दूसरा ईर्ष्या से उत्पन्न ।

---

१ कालिदास की कला और संस्कृति, पृ० २२५

२ मानः कोपः स तु द्वेधाप्रणयेर्ष्यासमुद्भवः ।
-- सा० द० ३। १९८

इसमें नायक ने केवल 'साम' (प्रिय वचन) के द्वारा नायिका को प्रसन्न करने की चेष्टा किया है — 'हे प्रिये, क्रोध को शान्त करो प्रसन्न हो जाओ मैं प्रणय की कड़ाई को भी नहीं सहन कर सकता हूं, तुम्हारे मुख फेर लेने पर और मन में उत्पन्न कामदेव के धनुष चढ़ा लेने पर मेरी कहां कुशल है ? यदि तुम्हें मेरी किसी दूसरी प्रेमिका होने का सन्देह है तो विश्वास करो मैं तुम्हारी ही सांसों से जीवित हूं, पर सम्बन्ध झूठ है । मन के सन्देह को जाने दो, तुम पर ही मेरा जीवन है । तुम्हारे प्राणों में स्थित मेरे प्राणों को क्यों कष्ट करती हो ।[2]

यह नायक के प्रिय वचन हैं वह केवल प्रिय वचनों से ही नायिका को वश में करना चाहता है, वह भूल के लिये पश्चाताप करता है और भविष्य में भूल न करने की शपथ लेता है[3]। और नायिका को मनाते हुये कहता है —'मन की गांठ को थोड़ा ढीला करो, मेरी प्रगाढ़ प्रीति को नहीं । इस शोक को छोड़ो, अपने वचन प्रेम प्रतिज्ञा को मत त्यागो । इस प्रकार पुनर्मिलन के एकमात्र सुखपने को प्राप्त

---

१ प्रशमय रुषितं प्रिये प्रसीद प्रणयकलव्यसनुत्सहे न सोढुम् ।
तव विमुखतयाऽभिकद्दनाये मनसिशये कुपिते कुतः प्रसादः ॥
— शि० १५ ।२२

२ मम यदि युवतिं विशङ्कसेऽन्यां
श्वसिमि तव स्वनिमिलतैव जीवः ।
भवतु मनसि संशयस्तथैव्यात्प्रियतमे
त्वयि जीवितं कथं मे ॥
— वही १५ ।२३

३ न पुनरिदमहं करोमि जीवन्निति
कृतेऽभिकृते पुराकृतं क्षमस्व ।
त्यज कुपितमितोऽथ हे नु सत्यं
कुपितवती भवतीव सम्मताने ॥
— वही १५ ।२४

अन्य कवियों की अपेक्षा कवि ने मान-विप्रलम्भ-शृङ्गार का चित्रण विपुल मात्रा में किया है और स्वयं उसी अनुभावों का चित्रण भी किया है । क्षुब्ध नायिका एवं क्षुब्ध नायक दोनों के चित्रण में सफलता प्राप्त की है । मान विप्रलम्भ के साथ ही साथ प्रवास विप्रलम्भ का चारु-चित्रण भी कवि की लेखनी से हुआ है किन्तु रामायण की कथा सम्बन्धित चित्रण में विप्रलम्भ शृङ्गार है और उसी के दूसरे अर्थ भारत कथा में वीर रस की झलक दिखायी पड़ती है, किसी-किसी में तो विप्रलम्भ शृङ्गार की झलक है । कवि का प्रवास विप्रलम्भ वहाँ से प्रारम्भ होता है जहाँ से रावण सीता का हरण कर लेता है यहाँ से वस्तुतः यह प्रवास प्रारम्भ हो जाता है । रावण सीता का हरण कर ले जा रहा था उस समय राम के साथ भावी प्रवास के विरह की आशंका से कम्पित सीता की दशा देखिये --'भय की भीत हरिणी के समान चंचल नेत्रवाली वह मन के कोने-कोने में कटाक्ष डालती हुयी दूर तक दृष्टि डाल कर पति को खोज रही है[1] ।

सीता का अपहरण हो जाने के समय अनुज लक्ष्मण को दूर गया देखकर ही रामचन्द्र जी को सीताहरण की आशंका हो गयी थी[2] । रामचन्द्र जी का समय सीता विरह के बिना बड़ा दुःख से व्यतीत हो रहा था । सीता का प्रवास राम

---

१ दृष्टया कटाक्ष पातेन सारङ्गीलोललोचना ।
वने दिशि दिशि भ्रान्ता दीर्घमन्वेषते पतिम् ॥
— द्वि० ७।८६

२ (क) हरिणान्वाहे सरावन्तो वैरागोपमिया सुतः ।
विप्रलम्भसुखं पश्यन्सुरः पुरुषोऽभवत् ॥
— वही ६।१

(ख) दूरस्थाः पाताळगङ्गान्तः भीमूर्धं प्राप्य पुण्यवान् ।
सीताविन्यासक कार्यं दुःखात्तोऽयमन्वितः ॥
— वही ६।३

कहीं भी न जाने की अनुमति चाहते हैं। एकान्त मिलते ही अपने आप से बोलता है, बारम्बार घूम फिर कर दूसरों से तुम्हारे विषय में पूछता है, क्षण भर में ही अपनी सम्पत्ति और प्राणों से भी विरक्त हो जाता है। हे देवि! यह कौन सा कार्य है जो राम और कृष्ण ने तुम्हारे विरह में न किया हो।[1]

विरह ज्वर से संताप का उदाहरण -- 'प्राण देकर भी पालनीय, स्वाभाविक और अपरिमित मेरा प्रेम एक दूती के बहकाव के द्वारा जिस दिन मेरे हृदय को शून्य करेगा हाय वह दिन किस बेला में अपने आप आयेगा ? इस प्रकार नारायण प्रतिदिन तुम्हारा ही ध्यान करता है।[2]

अतः मान-भंग का प्रवास वर्णन भी उच्च कोटि का है। उपर्युक्त प्रवास विप्रलम्भ को सम्भ्रम-वश प्रवास के अन्तर्गत ही रखना समुचित होगा। क्योंकि प्रवास तीन प्रकार का होता है कार्यवश--शापवश एवं सम्भ्रमवश। कार्यवश प्रवास विचार-पूर्वक होता है। अतः सीता का हरण विचारपूर्वक नहीं किया गया है। सीता शाप के कारण भी नहीं हरण की गयी है। सीता का हरण तो एकाएक रावण के द्वारा किया गया है, दैववश होने के कारण हमारी दृष्टि में सम्भ्रमवश प्रवास मानना ही अधिक समीचीन है और राम को पता है सीता जीवित है अतः आलम्बन के विद्यमान रहने पर प्रवास विप्रलम्भ शृङ्गार की कोटि में रखा जा सकता है।

---

१ अनुरहसमुपैति मन्मथुः पदमपि
        परिहृत्य मायेव यः ।
  अमुना बहुना च कथं कथमुके
        अपि तव कृते न किं तत्कृतम् ।। -- हि० १२।४१

२ सुकरमनुपेयं प्रेम मेऽस्वाभाविकमपरिमितम् --
        दूतकरिष्यत्यायतं हन्त यस्मिन्नु ।
  स्वमनुपमननामं तत्कथामाविशद्गुणिनमनुदिनेसं
        ध्यायति त्वां नरेन्द्रः ।।
                -- वही १२।४२

राघवपाण्डवीय —

कविराज का 'राघवपाण्डवीय' एक अद्भुत महाकाव्य है । इसके प्रत्येक श्लोक में श्लेष द्वारा रामायण और महाभारत की कथा का साथ-साथ वर्णन किया गया है ।

इस महाकाव्य में भी विप्रलम्भ के चार प्रकारों में से प्रवास विप्रलम्भ शृङ्गार का ही चित्रण कविराज ने किया है । पञ्चम सर्ग में रावण द्वारा हरण की गयी सीता तथा जयद्रथ द्वारा हरण की गयी द्रौपदी के विरह का वर्णन है । राम सीता एक दूसरे से अलग हो गये हैं । जिस समय रावण सीता को ले जा रहा था एवं जयद्रथ ने द्रौपदी का हरण किया था । उस समय सीता एवं द्रौपदी के पीड़ा से भरे हुये रोने के शब्द की प्रतिध्वनि से भरे हुये गुफा रूपी मुख से मानो स्वयं रोने लगे[1] । सीता एवं द्रौपदी अपने प्रियतम के प्रवास को नहीं सहन कर सकी । इन दोनों का विरह इतना दुःख दायक था कि हरिणियों एवं पक्षियों का समूह बहुत देर तक चिल्लाता रहा[2] । सीता के एवं द्रौपदी के ऊँचे आर्तनाद से क्रोधित होकर जटायु[3] एवं भीमसेन ने रावण एवं जयद्रथ का रास्ता अत्यन्त शीघ्रता से रोक लिया ।

---

१ तथागतां तामवलोक्य विह्वलां तदार्तनादप्रतिनादवेदुरैः ।
गुहामुखैर्गिरिरप्यरोदीत् स्वयं नु कृष्णवनान्तवेदिनी ॥
— राघव० ५। ३६

२ कुररीणां कलापैश्च विष्वक्ता विलोक्य वीक्षिणः कुलं परेण तामु ।
तदीयकेलीहरिणीभिः सर्वं विराव कृत्वा वने दिवाकृतिः ॥
— वही ५ ।४०

३ आकृष्यमाणः प्रभवादिवीकीलकर्णनादैरभिवृता कृष्णा च ।
स्वरावलम्बनाय रुरोध मार्गं कीन भीमः समराङ्गणः ॥
— वही ५ ।४१

'राघवपाण्डवीय' का कई कवियों ने अनुकरण किया। हरदत्तसूरि के 'राघवनैषधीय' में नल और राम की और चिदम्बर कृत 'राघवयादवपाण्डवीय' में रामायण, महाभारत, भागवत की कथा एक साथ वर्णित है। विद्यामाधव रचित 'पार्वती-रुक्मिणीय' में शिव-पार्वती तथा कृष्ण-रुक्मिणी के विवाह का एक साथ वर्णन किया गया है। सबसे अधिक कुतूहलोत्पादक तो वेंकटाध्वरि का ३० श्लोकों का यादवराघवीय है, जिसमें सीधे पढ़ने से राम की तथा उल्टे पढ़ने से कृष्ण की कथा का वर्णन है। इस प्रकार का शाब्दिक कौतुक संस्कृत के अतिरिक्त,संसार की अन्य किसी भाषा में नहीं पाया जाता।

-0-

षष्ठ परिच्छेद

-0-

ऐतिहासिक महाकाव्य

षष्ठ परिच्छेद

-0-

ऐतिहासिक महाकाव्य

नवसाहसाङ्कचरित

नवसाहसाङ्कचरित महाकाव्य में शृङ्गार के भेदों से विप्रलम्भ शृङ्गार पुष्ट हो पाया है । सम्भोग शृङ्गार का वर्णन इस महाकाव्य में नहीं के बराबर है । विप्रलम्भ के पांच भेदों (अभिलाषा, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और शाप) में से इस महाकाव्य का विरह पूर्वराग अथवा अभिलाषा के रूप का है । पद्मगुप्त ने इस महाकाव्य का नाम नवसाहसाङ्कचरित रखा है और उसका प्रारम्भ भी राजा नवसाहसाङ्क का परिचय देते हुये किया है । नवसाहसाङ्कचरित शृङ्गाररस प्रधान महाकाव्य है । शृङ्गार में विप्रलम्भ के पूर्वराग का वर्णन ही आदि से अन्त तक इस महाकाव्य में हुआ है अतः इसे हम विप्रलम्भ शृङ्गार प्रधान काव्य कहें तो कोई त्रुटि नहीं होगी । राजा के हृदय में शशिप्रभा की अवतारणा कब और कैसे हुयी इस प्रसङ्ग को कवि ने हंस और मृग के माध्यम से बड़ा मनोरम चित्र कल्पित किया है ।

काव्य के प्रारम्भ में ही राजा मृगया विहार को जाता है । वह मृग राजा को बहुत दूर वन में ले जाता है । उसका सौन्दर्य दर्शन हंस दर्शन और हार दर्शन से ही व्यक्त होने लगता है । शशिप्रभा के हार पाने और उसमें शशिप्रभा नाम पढ़ने से कामभावना अंकुरित होती दिखाई देती है । वह शशिप्रभा के विषय में

---

१ [illegible] त्रिभुवन[illegible]: ।
कुसुमकृति विलसती परिचित रूप इव शशिप्रभाया: ।।
—नव० ३।[illegible]

भागवती द्वारा कह दिया गया है — 'तुम निश्चिन्त रहो जिस प्रकार कण्व के आश्रम में शकुन्तला का मिलन दुष्यन्त के साथ हुआ था, उसी भाँति इस राजा से तुम्हारा मिलन भी अवश्य होगा।'[1]

इस प्रकार भावों का क्रमिक विकास करके उन्हें रतिपुष्टि में सहायक करने में प्रद्युम्न ने अतिकुशल नाट्यकला का परिचय दिया है।

जिस प्रकार हरिप्रिया के हार धारण करने से राजा की काम भावना की वृद्धि हुई उसी भाँति 'गुणान्तरप्राप्तवता तेन स्पृष्टेव्या मनोभव:'[2] के द्वारा यह भी व्यक्त कर दिया कि हरिप्रिया ने भी जब राजा के हार को धारण किया था तो वह भी कामासक्त हो गई थी।

हरिप्रिया की यह सब चेष्टायें पूर्वराग की अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन की सूचक हैं।

हरिप्रिया के दर्शन पर रही-सही कमी को रंगनाथ ने उसके रूप-वर्णन से पूर्ण कर दिया। हरिप्रिया के नख-शिख वर्णन ने राजा को उसके प्रति अति आकृष्ट बनाकर उसके प्रति रति की वृद्धि कर दी। यही रतिभाव की वृद्धि स्वप्नदर्शन में हो रही है। इसके पश्चात् उसमें और अधिक उत्सुकता आती है। मनोरथों की प्रबलता से वह परिपुष्ट होती दिखाई देती है। रागानुराग की वृद्धि होने पर भी वह मर्यादा का ध्यान रखती है वह राजा को देखती है तो कनखियों से। लज्जा

---

१ चिरात् पत्य भूपेण त्वमपि संगमाप्स्यसि ।
यथा कण्वाश्रमे पूर्वं दुष्यन्तेन शकुन्तला ॥
— का० ६।६४

२ वही ६।१११

३ निर्विकल्पानन्द तथा सौरभनैरपाङ्गपक्षपातिरस्त्रीभिरीक्षा ।
उपान्तपुष्पः पिनाकिपुरन्दरं कामं कन्यारत्नपुरः स्थितः ॥
— का० ७।३१

एक रात राजा ने स्वप्न में शशिप्रभा दिखाई दी[1]। बार-बार करवट बदलने के कारण, गहरी श्वांस लेने के कारण शून्य आकाश की ओर देखने के कारण राजा के समीप में स्थित रत्नाङ्गद ने समझ लिया कि उसे कामपीड़ा सता रही है[2]। राजा की कामाग्नि को शान्त करने के लिये रत्नाङ्गद ने केले के पत्तों से हवा करके, और हृदय पर कमल की कोमल डण्डियों को धर कर तथा अन्य भी इसी प्रकार के कार्यों के द्वारा राजा के लिये ठण्डे-ठण्डे उपाय करने लगा[3]। यहां कामाग्नि का एक मात्र कारण शशिप्रभा का न मिलना था, शशिप्रभा के बिना सभी सौन्दर्य की वस्तुयें तुच्छ लग रही थीं[4]। उसकी कामपीड़ा को शान्ति देने वाली दो ही वस्तुयें थीं। एक तो सुन्दर नेत्रों वाली शशिप्रभा के स्तनों पर लगे चन्दन से लगा हुआ हार, और दूसरा वह बाण[5]।

---

१ अथ यामवतीमनोरमे मणिपर्यङ्कगतस्य तस्य सा ।
अभवत् फणिराजकन्यका नयनाभ्यर्णचरी स्मृतेः पथि ॥
— नव० १२।१

२ मुहुरङ्गपरावर्तनैः श्वसितैः शून्यविलोकनेन च ।
निकटान्तवर्तिना मदनातङ्कवशोऽन्वमीयत ॥
— वही १२।३

३ कदलीदलमन्दमारुतैर्हृदयन्यस्तमृणालकन्दलैः ।
अथ तस्य बभूव मन्मथात् उपचारे शिशिरे रत्नाङ्गदः
— वही १२।४

४ अभिलाषपदं दृशां पुरः कमनीयेषु न तेषु वस्तुषु ।
शशिलेखविलासिभिः स तैरितरैरंचितमन्वमीयत ॥
— वही १२।२

५ अभवद्द्वयमेव भूपतेः स्मरतप्तस्य मनोविनोदनम् ।
कुचयोः स करातिथिः शरः स च हारः स्तनचन्दनाङ्कितः ॥
— वही १२।५

वियोग में शीतलता देने वाली वस्तुएँ मृणाल हार,[1] चन्दन, जल न जल में डुबोने से न कमलिनी के पत्रों के रखने से किसी प्रकार की शान्ति नहीं मिलती बल्कि और अधिक दाहकारक बन गयी।[2] चित्त में केवल राधा का ही संकल्प है।[3]

पद्मगुप्त ने भी नायिका की इन्हीं अवस्थाओं का चित्रण किया है। मरण तुल्य अवस्था का किन्तु अन्त में कवि ने कह दिया कि -"काम से पीड़ित हमारी सखी जब तक जीवित है तब तक शीघ्र ही आप स्वर्ण कमल लेकर यहाँ पहुँचें।"[4] शशिप्रभा के स्वरूप का जो वर्णन किया गया है उससे उसके अनुराग की अधिकता का पता चलता है।

भ्रमरों का मधुप्रिय होना प्रसिद्ध ही है और उसी के साथ

---

१ जायते शैत्यमपि प्रायो वस्त्वन्यथाऽन्यथा ।
प्राप्तो मृणालहारोऽपि यदस्या दाहहेतुताम् ॥
-- नव० १६ । ४१

२ न चन्दनेन नीहारहारिणा न जलार्द्रया ।
नाऽस्याः पुटकिनीपत्रैः शाम्यति स्मरज्वरः ॥
-- वही १६ । ४३

३ किञ्चापरं त्वमेतस्या हृदयस्याधिदेवता ।
यतस्तन्मयमेवैषा विश्वं विश्वेश पश्यति ॥
-- वही १६ । ४४

४ तावदागच्छ देवेन गृहीत्वा हेमपङ्कजम् ।
अनङ्गनिपुणा यावदियं श्वसिति नः ॥
-- वही १६ । ४६

नवसाहसाङ्कचरित के विप्रलम्भ शृङ्गार की पूर्ण पुष्टि के लिये जो कुछ विवेचन किया गया है, उससे यह भलीभाँति विदित हो जाता है कि कवि का रस पर पूर्ण अधिकार था । वह स्वयं इस प्रकार के व्यक्तित्व का था, जिसके कारण वह अपनी अभिमत रस-निष्पत्ति में सफल हो सका ।

विक्रमाङ्कदेवचरित -

महाकवि बिल्हण विरचित `विक्रमाङ्कदेवचरित` महाकाव्य ऐतिहासिक महाकाव्य माना गया है । संस्कृत साहित्य में यद्यपि अनेक पद्य ऐतिहासिक काव्य तथा गद्य ऐतिहासिक काव्य हैं किन्तु पद्य, ऐतिहासिक महाकाव्यों में `विक्रमाङ्कदेवचरित` तथा गद्य ऐतिहासिक काव्यों में `हर्षचरित` को अत्यधिक प्रसिद्धि है ।

`विक्रमाङ्कदेवचरित` महाकाव्य १८ सर्गों में विभक्त है । प्रथम १७ सर्गों में चालुक्य वंश की उत्पत्ति और वंश में उत्पन्न कुछ प्राचीन राजाओं का वर्णन कर विक्रमादित्य (षष्ठ) अर्थात् विक्रमाङ्कदेव से वर्णन किया है । ये ही इस महाकाव्य के नायक हैं ।

इस महाकाव्य में वीर रस अङ्गी है और शृङ्गार आदि रस अङ्ग है । महाकवि बिल्हण ने जो आशीर्वादात्मक मङ्गल[1] किया है और उसी से इस महाकाव्य का वीर रस प्रधान होना सङ्केतित किया है ।

नैषध के समान इस महाकाव्य में शृङ्गार का विप्रलम्भ पक्ष पहले आया है सम्भोग बाद में । इस महाकाव्य का विप्रलम्भ शृङ्गार अभिलाष अथवा पूर्वराग के रूप का है । बिल्हण ने इस काव्य का नाम `विक्रमाङ्कदेवचरित`

---

१ भुजप्रभादण्ड इवोर्ध्वगामी स पातु वः कंसरिपोः कृपाणः ।
यः पाञ्चजन्यप्रतिबिम्बभङ्ग्या धाराम्भसः फेनमिव व्यनक्ति ।।
--विक्र० १।१

रखा है और इसका प्रारम्भ भी विक्रमाङ्कदेव का परिचय देते हुये किया है । विक्रमाङ्कदेव के जीवन में चन्द्रलेखा की अवतारणा कब और कैसे हुयी इस प्रसङ्ग को महाकवि ने अद्भुत सफलता के साथ कल्पित किया है । कठिनाई इस कारण विशेष थी कि भारतीय प्रेम पद्धति में नायिका का नायक में अनुराग पहले दिखाया जाता है, नायक का नायिका में बाद को । अब यदि चन्द्रलेखा का पहले परिचय देकर उसके विक्रमाङ्कदेव के अनुराग का विवरण देते हुये काव्य का प्रारम्भ करते तो उसमें प्रामुख्य चन्द्रलेखा के चरित का होता जिससे विक्रमाङ्कदेवचरित नाम सार्थक न होता । अतः विक्रमाङ्कदेव का परिचय देता हुआ कवि उसके यश, दान, पराक्रम आदि का विवरण शीघ्रता से देकर वयः सन्धि के समय रूप सौन्दर्य का बड़ा विस्तृत चित्रण करता है ।

दूत के मुख से चन्द्रलेखा के नखशिख वर्णन सुनने के पश्चात् राजा विक्रमाङ्कदेव की स्थिति — इस प्रकार कान को अमृत रूप अर्थात् कान को अच्छी लगने वाली बात को सुनने वाले कौतुक से आकर्षित हुये और फिर वे उस कथा को सुनने की आकांक्षा रखने वाले उस कर्णाट देश के राजा विक्रमाङ्कदेव के पास में उसी बात को अधिक बढ़ाकर कहने के लिये मोतियों के बहाने में चञ्चल कानों से गिरे हुए कमलों के आभूषण वाला कामदेव आ पहुंचा । अर्थात् चन्द्रलेखा की कथा को सुनकर विक्रमाङ्कदेव[2] कामासक्त हो गया[1] । पूर्वराग में दूत, भाट आदि के द्वारा गुणों का श्रवण होता है ।

---

१ इत्थं कर्णरसायनं शृण्वतः कर्णाटभूमीपते-
राकृष्टस्य कुतूहलेन पुनरप्याकांक्षतस्तत्कथाम् ।
प्राप्तः पार्श्वमनुष्य वक्तुमिव तां भूयोऽपि वार्तां पुनः
चिञ्चाचञ्चलकर्णपल्लवगलत्कर्णोत्पलाङ्कश्रवः स्मरः ॥
— ८ । ८६

२ श्रवणं तु भवेत्तत्र दूतबन्दीसखीमुखात् ।
सा० द० ३। १९८

राजा विक्रमाङ्कदेव के पूर्वराग सम्बन्धित उपर्युक्त श्लोकों में चन्द्रलेखा आलम्बन विभाव, चन्द्रलेखा का सौन्दर्य, गुणकथन, स्मरण उद्दीपन विभाव, राजा का मूर्च्छा को प्राप्त करना, उच्छ्वास, विरह सन्ताप, कामाग्नि से पीड़ित, विरह से पीड़ित आदि अनुभाव, दैन्य, स्मृति, व्याधि, आवेग, स्वप्न, विषाद, उग्रता, मति, उन्माद, जाड्य और वितर्क आदि संचारी भाव के द्वारा उत्पन्न रति विप्रलम्भ शृङ्गार का हेतु है।

"इस पूर्वराग वियोग की विभिन्न दशाओं को आचार्यों ने कामदशा कहा है। पूर्वराग पहले तो रूप गुण प्रधान होने के कारण सामान्योन्मुख रहता है। हमें अमुक व्यक्ति विशेष इसलिये प्रिय लगा कि उसमें वह रूप और वे गुण हैं जो हमें अत्यन्त प्रिय हैं। यहां हमारा अनुराग उस व्यक्ति के प्रति नहीं, बल्कि उस रूप और उन गुणों के प्रति है। अतः हम इसे सामान्योन्मुख कहते हैं। पर यही पूर्वराग जब कुछ दिन तक बना रह जाता है तो प्रेम का रूप धारण कर लेता है। प्रेम व्यक्ति विशेष के प्रति होता है, अतः विशेषोन्मुख कहा जाता है। फिर उस पूर्वराग में एकनिष्ठता आ जाती है। प्रेम हो जाने पर उस व्यक्ति के न मिलने से अनेक दुःख स्वभावतया भोगने पड़ते हैं अतः पूर्वराग या प्रेमजन्य वियोग-दशा को काम-दशा कहना अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ता। कामवेदना ऐसी वेदना है जो व्यक्ति-विशेष के प्रति नहीं होती। वह एक प्रकार सामान्य सुख का अभाव मात्र है। संभवतः प्रिय और प्रेमी के मिलन के बाद की दशा का साधारण संयोगदशा से साम्य देकर दोनों को वियोग दशा में मान लिया गया है।[1]"

अभी तक तो राजा के ही अभिलाष एवं पूर्वराग का वर्णन हुआ है अब दूत के मुख से चन्द्रलेखा की स्थिति देखिये कि वह भी राजा के विरह में संतप्त है। यहां निम्नलिखित श्लोकों में दूत के कथन द्वारा चन्द्रलेखा का अनुराग ध्वनित हो रहा है - बिना चन्द्र के ही बेचारी चकोरों का जीवनोपाय, बिना पुष्प

---

१ वि० चरि० : डा० चन्द्रिका प्रसाद शुक्ल, पृ० १६५

बहुता कामुकता के सूचक हैं। अतः चन्द्रलेखाविषयक रति स्थायी भाव को कामदशात्मक पूर्वराग विप्रलम्भ शृङ्गार के नाम से अभिहित किया जाता है।

एक अविवाहित, विजयी, प्रतापी युवा राजा के हृदय में किसी अपूर्व सौन्दर्य वाली राजकुमारी के प्रति अनुराग उत्पन्न होना न अनुचित है न अस्वाभाविक। राजा चन्द्रलेखा को प्राप्त करने के लिये उत्कंठित हो गये। पुरुष की यह बेचैनी स्वाभाविक ही है। राजा सहस्रों पुरुषों, भावों से नवीन उत्साह को प्रकट करता हुआ स्वयम्बर के मण्डप में पहुँच कर चन्द्रलेखा को देखने के लिये उत्कण्ठित हो उठा[1]। राजा स्वयंवर में स्थित चन्द्रलेखा को देखकर उसके हाव-भाव को देखकर यह निश्चित कर लेता है कि यह चन्द्रलेखा उसी से प्रेम करती है[2]। चन्द्रलेखा के हृदय में भी अभिलाषा की पूर्ति से ही है तो वह अपने हावभाव से यह सूचित कर देती है कि माला विक्रमाङ्कदेव के गले में ही डालेगी[3]।

नायक-नायिका दोनों ही प्रेम में अधीर हैं दोनों में ही प्रेम का अंकुर प्रस्फुटित हो रहा है। दोनों का प्रेम मञ्जिष्ठा राग का सूचक है। नायक और नायिका दोनों में तुल्यानुराग को दिखाया है।

----

१ स दुन्दुभीनां ध्वनिभिः समूहैः प्रकाश्यमानाभिनवोत्सवाद्य ।
प्रविश्य तस्यां भुवि कौतुकेन कान्तावलोकनतत्परोऽभूत ।।
-- विक्र० ९।४४

२ अयं मयि न्यस्यति वेल्लिताक्षी मुहुः सखीनां किमपि प्रमाणम् ।
सत्येव सानुरागरागबाणी चिरात्प्रसन्नो भगवाननङ्गः ।।
-- वही ९। ७४

३ प्रयाण पादेन कृतौ विलम्बाकुल वारं मुहुरागमेन ।
सा पत्नी कुन्तलराजपुत्री न कारिता किं करणेन ।।
-- वही ९।७४

है -- एक मौलिक, रसोज्ज्वल तथा चमत्कार-मण्डित । कालिदास स्वयंवर-वर्णन इन्दुमती-स्वयंवर की सफल प्रतिच्छाया है ।

राजतरङ्गिणी -

महाकवि कल्हण-कृत 'राजतरङ्गिणी' ऐतिहासिक काव्यों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है । 'राजतरङ्गिणी' संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक घटनाओं के क्रमबद्ध इतिहास के प्रथम प्रयास है । कल्हण ने आदिकाल से लेकर सन् ११५१ ई० के आरम्भ तक के काश्मीर के प्रत्येक राजा के शासन-काल की घटनाओं का यथाक्रम विवरण दिया है । राजतरंगिणी आठ तरङ्गों में विभाजित है जिसमें कुल ७,८२६ श्लोक हैं ।

राजतरंगिणी में महाकवि कल्हण ने डेढ़ हजार वर्ष का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास बड़ी सजगता और सूक्ष्मता से प्रस्तुत किया है । सच्चे इतिहासकार की भाँति उन्होंने जीवन के प्रत्येक अंग पर दृष्टि डाली है । इस दृष्टि से यदि उसे काश्मीर का तत्कालीन विश्वकोष कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी । संस्कृत के प्राचीन ऐतिहासिक महाकाव्यों में यही एकमात्र ऐसी कृति है, जिसमें तिथियों का निर्देश किया गया है ।

'ऐतिहासिक रचना होने पर भी 'राजतरङ्गिणी' में काव्यात्मक गुणों का अभाव नहीं । सैकड़ों वर्षों के दीर्घकाल का इतिहास लिपिबद्ध होने के कारण उसमें अवश्य ही काव्योचित वैचित्र्य के लिये अधिक अवकाश नहीं था ।'[1] रसों का सुन्दर समावेश है । ऐतिहासिक महाकाव्य होने के कारण वीर रस की प्रधानता है अन्य रस गौण हो गये हैं, अत: शृङ्गार रस का ही चित्रण नहीं हुआ है तो विप्रलम्भ शृङ्गार का चित्रण का प्रश्न ही नहीं उठता है ।

-0-

---

१ सं० सा० की रू०, पृ० ३७८

सप्तम परिच्छेद

-0-

बौद्ध और जैन महाकाव्य

उपरोक्त श्लोकों में नायक आलम्बन है, निःश्वास, अश्रुपातादि, रोदन, विलाप आदि व्यभिचारी भावों के संयोग से अभिव्यज्यमान वियोग कालिक रति विप्रलम्भ रस के व्यपदेश का हेतु है ।

बुद्धचरित का यशोधरा विलाप प्रवास विप्रलम्भ है अथवा करुण विप्रलम्भ है । यशोधरा के हृदय में रति विद्यमान है । उसे पुनर्मिलन की आशा है शायद पति लौट आवे । यहां तो शृङ्गार का आलम्बन जीवित है इसलिये करुण तो हो ही नहीं सकता[1] । नायिका के विलाप में शोक के साथ ही साथ रति विद्यमान है । इस दृष्टि से यशोधरा विलाप को प्रवास विप्रलम्भ मानना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है । क्योंकि वह यह जानती हैं कि नायक जीवित, अन्यत्र ही तो कहीं गये हैं, संसार से विरक्ति बुद्धि पूर्वक बिना पूर्व सूचना के ही चले गये हैं अतः आलम्बन एवं रति के रहते हुये इसे करुण विप्रलम्भ की श्रेणी में न रखकर प्रवास विप्रलम्भ की श्रेणी में ही रखना अधिक समीचीन होता है ।

सौन्दरनंद : सौन्दरनंद महाकाव्य

अश्वघोष का दूसरा महाकाव्य है । कवि अश्वघोष कृत सौन्दरनंद एक अत्यन्त पूर्ण और सुन्दर कलाकृति है जैसा कि नाम से ही प्रकट है, इसमें नन्द और सुन्दरी की कथा है । १८ सर्गों में निबद्ध सौन्दरनंद महाकाव्य यौवन-सुलभ उद्दाम काम तथा धर्म के प्रति आन्तरिक प्रेम के विषम संघर्ष को भव्य भाव में चित्रित करने वाला एक अद्भुत काव्य है जो काव्य सुलभ गुणों की दृष्टि से बुद्धचरित की रचना से कहीं अधिक स्निग्ध, सरस तथा सुन्दर है । इस काव्य की कथा बुद्ध के सौतेले भाई, सौन्दर्य की पूर्ण प्रतिमा, सुन्दरनंद के गृहत्याग, अपनी प्रियतमा सुन्दरी से मोहभंग तथा प्रव्रज्याग्रहण से सम्बन्ध रखती है ।

---

१ मृते त्वेकत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः ।
व्याश्रयत्वान्न शृङ्गारः प्रत्यापन्ने तु नेतरः ॥
— द० रू० ४।[illegible]

सौन्दरनंद में महाकाव्य के सम्पूर्ण लक्षण विद्यमान हैं। कथावस्तु इतिहास प्रसिद्ध तथा सज्जनाश्रित है। महाकाव्य का विभाग सर्गों में हुआ है। सर्गों की संख्या लक्षणानुसार आठ से अधिक है। नायक नंद है जो कुलीन क्षत्रिय है। काव्य का प्रधान रस शान्त है। शृङ्गार करुणा आदि अंग हैं। लक्षण के अनुसार 'सौन्दरनंद' नाम नायक नायिका के आधार रखा गया है। काव्य का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति है।

'नन्द और सुन्दरी की मूक वेदना के चित्रण में अश्वघोष को जितनी सफलता मिली है उतनी ही उन्हें बुद्धधर्म के उपदेशों को सुन्दर भाषा में अंकित करने में। इस काव्य की तुलना में भारी भरकम होने पर भी बुद्धचरित बुद्ध के मार्गों के वर्णन में, काम तथा धर्म के परस्पर वैमनस्यमण्डित भीषण संघर्ष के चित्रण में, बौद्धधर्म के आधार प्रधान उपदेशों के क्रमात्मक विवरण में निःसन्देह न्यून है। इसलिये बुद्धचरित कवि की प्राथमिक रचना प्रतीत होती है। सौन्दरनंद में अश्वघोष ने रस-मग्न कर अपना काव्यकौशल दिखलाया है। विषय की विशिष्टता के कारण भी उसे कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति कर तथा धार्मिक उपदेशों के पूर्ण विवरण देने का अच्छा अवसर यहां प्राप्त होता है।'[1]

<u>विप्रलम्भ शृङ्गार</u>

इस महाकाव्य में शान्त रस की प्रधानता होते हुये भी विप्रलम्भ का वर्णन विपुल मात्रा में नहीं है। नंद की दीक्षा से लेकर नंद मिलाप तक विप्रलम्भ शृङ्गार के उदाहरण मिलते हैं। शान्त रस प्रधान काव्य होने के कारण विप्रलम्भ का चित्रण शास्त्रीय कसौटी पर नहीं हुआ है। पूर्वराग मान आदि किसी भी प्रकार का उल्लेख नहीं है और कवि नंद और सुन्दरी का वियोग एकाएक करा देते हैं, अतः सम्भ्रम वश प्रवास का वर्णन आ जाता है। एकाएक अनुचित पूर्वक प्रवास के कारण नायक नायिका एक दूसरे के लिये विलाप ही करते रहते हैं — मुनि नंद को दीक्षा देने को तैयारी में हैं, हाथ में पात्र लिये हुये हैं फिर भी नंद प्रिया के अनुराग के

---

१ सं० सा० का० इ०, पृ० १५२

कारण घर जाने को व्याकुल है[1]। नंद का मन दीक्षा ग्रहण करने में आकृष्ट नहीं है उसे पत्नी के छूटने का असह्य दुःख है वह अपनी पत्नी का ही ध्यान करता रहता है[2]।

मुनि नंद को विहार मठ में ले गये उस समय भी नंद को दुःखी देखकर समझाने लगे। फिर बुद्ध के बहुत समझाने पर नंद तैयार हो जाते हैं किन्तु नंद अपनी भार्या के लिये ही छटपटाता है अभी भी उसमें रति विद्यमान है। केशों के कटते समय उसका झुका हुआ अश्रु पूर्ण मुख ऐसे शोभित हुआ जैसे पोखर में वर्षा के जल से भीगा हुआ कमल जिसके नाल का अग्र भाग झुक गया हो[3]।

यहाँ उपर्युक्त श्लोकों में आलम्बन नायिका है। नायक के अश्रु, निःश्वास, दुःख, अनुताप और विलाप, चिन्ता तथा आवेगादि व्यभिचारी भावों के संयोग से विरह-कालिक रति विप्रलम्भ रस का हेतु हैं।

बुद्ध की भक्ति द्वारा पति का अपहरण होने पर, प्रसन्नता के नष्ट होने पर और बेचैनी के उत्पन्न होने पर सुन्दरी विलाप करने लगी। पति के आगमन की प्रतीक्षा असह्य है। पति के विरह में अंग प्रत्यंग शिथिल हो रहे हैं। सुन्दरी के अनुभावों से ही उसका विरह दृष्टिगोचर हो रहा है — पति के आगमन

---

1 भार्यानुरागेण यदा गृहं स पापं गुरोश्चापि विवासुरेव।
विनीयमानाद मुनिशासनं तं स्वप्नानुबन्ध्यानवरोधि तस्य॥
— सौन्द० ५।१

2 नन्दस्तु दुःखेन विचेष्टमानः शनैरगत्या गुरुमन्वगच्छत्।
भार्यामुखं वीक्षणलोलनेत्रं विचिन्तयन्नार्द्रविशेषकं तत्॥
— वही ५।१६

3 ततो नतं तस्य मुखं सबाष्पं प्रवास्यमानेषु शिरोरुहेषु।
वक्राग्रनालं नलिनं तडागे वर्षोदकक्लिन्नमिवाबभासे॥
— सौन्द० ५।५२

से आंखों को बचाओ। उनमें उनका जो भाव है, और जो अनुराग है उससे यही कहना पड़ता है कि तुम्हारे विरह में उनमें धर्म में रति (आनन्द) नहीं होगा[१]। इस प्रकार समझाने पर सुन्दरी को कुछ बोध हुआ कि निश्चित ही नंद कषाय वस्त्र त्याग कर सुन्दरी से आ मिलेगा।

उपर्युक्त श्लोकों में आलम्बन नंद, निःश्वास, अश्रुपातादि आदि व्यभिचारी भावों के साथ ही रोदन, क्रन्दन, विलाप, मूर्च्छा, वस्त्र फाड़ना और बालों से मुख ढांकना आदि अनुभावों के साथ रति स्थायि भाव है।

अभी तो केवल सुन्दरी की भाव-व्यंजना, की विशिष्ट अवस्था का ही चित्रण किया गया है, किन्तु अब नंद की अवस्था भी देखने लायक है। प्रिया वियुक्त नंद प्रत्येक क्षण प्रिया का स्मरण करता है उसे विहार में भी शान्ति नहीं मिलती[२]। अशोक वृक्ष का सहारा लेकर अशोक वन को जाने वालों को प्रिया का स्मरण करता रहता है[३]। उसे प्रिया रोता हुआ चेहरा स्मरण आता है[४]। [illegible]

---

१ त्वं निर्वृतिं गच्छ नियच्छ बाष्पं तप्ताश्रुमोक्षात्परिरक्ष चक्षुः ।
यस्तस्य भावस्त्वयि यश्च रागो न रंस्यते त्वद्विरहात्स धर्मे ॥
-- सौन्द० ६। ४०

२ स पुष्पमासस्य च पुष्पलक्ष्म्या सर्वाभिसारेण च पुष्पकेतोः ।
यानीयभावेन च यौवनस्य विहारसंस्थो न शमं जगाम ॥
-- वही ७।२

३ शोकस्य हर्त्रीं शरणागतानां शोकस्य कर्त्रीं प्रतिगर्वितानां ।
अशोकमालम्ब्य स जातशोकः प्रियां प्रियाशोकवनां शुशोच ॥
-- वही ७।५

४ प्रियां प्रियायाः प्रतनुं प्रियङ्गुं निशाम्य भीतामिव निष्पतन्तीं ।
सस्मार तामश्रुमुखीं सबाष्पः प्रियां प्रियङ्गुप्रसवावदातां ॥
-- वही ७।६

कवि अश्वघोष ने सौन्दरनंद के षष्ठ, सप्तम और अष्टम सर्गों में विप्रलम्भ का चित्रण किया है, लेकिन अधिकांश कवि इसको करुणरस के अन्तर्गत मानते हैं किन्तु हमारे विचार से करुण रस नहीं होगा क्योंकि करुण रस में शरीर विनष्ट हो जाता है किन्तु यहां तो नंद जीवित है तो मरण का प्रश्न ही नहीं उठता। मरण का प्रश्न तभी उठता जब नंद मृत्यु को प्राप्त हो जाते । यहां तो नंद के हृदय में रति विद्यमान है जो आलम्बन के रहते करुण रस कैसे हो सकता है । हां प्रवास विप्रलम्भ के अन्तर्गत इसका अन्तर्भाव किया जा सकता है । क्योंकि नंद का गृह निवास अबुद्धि पूर्वक, दैवी इच्छा के कारण हुआ है । मेरी दृष्टि में अगर सम्भ्रम जनित प्रवास विप्रलम्भ माना जाए तो अधिक समीचीन होगा । करुण विप्रलम्भ भी नहीं मान सकते हैं क्योंकि कोई आकाशवाणी भी नहीं हुई, यहां तो नंद सशरीर जीवित है । नंद और सुन्दरी दोनों को एक दूसरे की प्रतीक्षा है । सुन्दरी को विश्वास है कि प्रिय जल्द आयेंगे । यही प्रतीक्षा तथा सम्भ्रम-जनित प्रवास के अनुभावों जैसे - रोदन, वेणी का न गूंथना, वस्त्र फाड़ना, दांत काटना आदि देखते हुये इसे प्रवास विप्रलम्भ ही माना जा सकता है । अन्त तक नंद यही कहते हैं -- "मैं वनवास के सुख से पराङ्मुख हूं इसलिये मैं घर जाना चाहता हूं । क्योंकि उसके बिना मैं शान्ति नहीं पा रहा हूं, जैसे कि राज्य लक्ष्मी से रहित राजा को शान्ति नहीं मिलती है ।[1]

अश्वघोष के यह काव्य संस्कृत काव्य के भूषण हैं । इनके प्रिय छन्द अनुष्टुप और उपजाति है । बुद्धचरित और सौन्दरनंद में अधिकांश सर्गों में उपजाति का प्रयोग हुआ है उसके बाद अनुष्टुप का प्रयोग है । अन्तिम श्लोकों में वंशस्थ, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता और शार्दूलविक्रीडित आदि के प्रयोग हैं ।

दोनों महाकाव्यों की शैली शुद्ध वैदर्भी है । इनकी वर्णनशैली स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक है । माधुर्य और प्रसाद गुणों से युक्त इनकी कविता

---

१ वनवाससुखात्पराङ्मुखः प्रयियासा गृहमेव येन मे ।
न हि शर्म लभे तया विना नृपतिर्हीन इवोत्तमश्रिया ॥
-- सौन्द० ७।१३

धाराप्रवाह से प्रवाहित होती है। शृङ्गार के साथ करुणरस का पुट होने से उनकी कविता सहृदयों को अधिक आकृष्ट करती है किन्तु उनके काव्यों में शान्तरस प्रधान है। कवित्व की अपेक्षा उनकी शैली अधिक सरल है। 'अश्वघोष के महाकवित्व के क्रमिक विकास का सुन्दर निदर्शन बुद्धचरित और सौन्दरनन्द है। बुद्धचरित प्रथम महाकाव्य है। यद्यपि इसका भाव दर्शन, अध्यात्म, और आचार अनुप्रेरित हैं, तथापि भाव, भाषा, काव्य-सौन्दर्य और लालित्य आदि की दृष्टि से उतना उच्च नहीं बन पड़ा है। कवि की प्रतिभा का निखार सौन्दरनन्द में परिलक्षित होता है। यद्यपि कहीं-कहीं अधिक वैयाकरण प्रयोग एवं व्याकरण-पाण्डित्य-प्रदर्शन खटकता है, तथापि भाव, भाषा एवं काव्य-सौन्दर्य वस्तुतः कवि की उच्चकोटि की प्रतिभा का प्रकाशन करता है और यही काव्य कवित्व की दृष्टि से विशेष प्रशंसनीय है।'[1]

निष्कर्ष रूप में यही कहना है कि अपने महाकाव्यों के उपर्युक्त गुणों के कारण ही अश्वघोष महाकवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं और आज भी देश विदेश में उनकी कीर्ति अजर अमर है।

चन्द्रप्रभचरित -

चन्द्रप्रभचरित महाकाव्य का विप्रलम्भ शृङ्गार अभिप्राय एवं भाव रूप का है। महाकवि वीरनन्दि ने काव्य का नाम चन्द्रप्रभचरित रखा है और इसका प्रारम्भ भी चन्द्रप्रभ जिनदेव (आठवें तीर्थङ्कर) का परिचय देते हुये किया है। महाकवि ने आठवें जिनेन्द्र भ० चन्द्रप्रभ का अज्ञानतिमिरनाशक पावन पुण्य सर्वोन्नत चरित्र लिखा है। उन्हें जिनेन्द्र से पूर्व के छह भव बतलाये हैं —१- श्रीवर्मा राजा, २- सौधर्म स्वर्ग, ३- पद्मनाभ राजा, ४- वैजयन्त विमान के अहमिन्द्र, ५- वैजयन्त विमान के अहमिन्द्र, इस प्रकार ६ भव बतलाकर छठें भव में चन्द्रप्रभ स्वयं जिनेन्द्र हुये हैं।

इस काव्यग्रन्थ में कुल १८ सर्ग हैं। जिनमें प्रारम्भिक सर्गों में ६ भव

---

१ सं० सा० का इ० ह० : बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ १७४

श्लोक में नायक का प्रेम भी दिखा देते हैं — प्रसिद्ध प्रतापी राजकुमार कामदेव के बाणों की चोटें खाते हुये उस दिन से प्रियतमा से मिलने के लिये उत्कण्ठित होकर व्याह के दिन गिनने लगे[1]।

प्रस्तुत श्लोक में आश्रय नायक, आलम्बन नायिका, उद्दीपन नायिका का कटाक्ष आदि अनुभाव मिलने की उत्कण्ठा, संचारी भाव स्मृति चिन्ता आदि के संसर्ग से रति स्थायीभाव है।

अतः इससे स्पष्ट हो गया कि नायक-नायिका एक दूसरे को हृदय से चाह रहे हैं। नायिका गत अभिलाष एवं नायक गत अभिलाष दोनों का ही मनोरम चित्रण है।

अब कवि विप्रलम्भ शृङ्गार के अन्तर्गत मान का वर्णन कर रहे हैं। पति से मुंह फेर कर सोयी हुयी नायिका को नायक प्रणय से मना रहा है — "हे कृशतनु! अत्यन्त उन्नत दोनों कुचों के इस विनाशकारी भार से तुम्हारा शरीर यों ही खिन्न हो रहा है। इसलिये इस वृथा के कोप के भार को त्याग दो। अत्यन्त पीड़ित को पीड़ा पहुंचाने से लाभ ही क्या है? मैं विरह के भय से तुमसे यह नहीं कहता। क्योंकि हे कमलमुखी! मान कोप से कुपित होने पर भी तुम सदा मेरे हृदय में स्थित रहती हो[2]। मैं इसलिये कहता हूं कि यह बुरे परिणाम वाला कोप

---

१ स ततः प्रभृति प्रतापशोभा विवाहाभिमुखवासरं कुमारः ।
गणयन्स्मरबाणभिन्नमर्मा दयिताङ्गसङ्गमकुतुकोऽवतस्थे ॥

-- चम्पू० ६।७२

२ खिन्नं ते वपुरनयापि नामुनैव भारेणोन्नतविषयिणः कुचद्वयस्य ।
मुञ्चैनं कृशतनु मुग्ध रोषभारं भो किं पीडितमभिपीडितेन ॥
नत्वाहं विरहभयाद्ब्रवीमि यस्माद्रुष्टापि त्वमसि हृदि स्थिता सदा मे ।
किं त्वन्योऽस्ति दुरन्तो कोपोऽयं नियतमनङ्गमहोत्सवान: ॥

-- वही १०। ७०,७१

शृङ्गार के अन्तर्गत ही आना चाहिए। क्योंकि रति के रहने पर विप्रलम्भ शृङ्गार ही होगा।

प्रस्तुत श्लोक में वैदर्भ की पत्नी आलम्बन विभाव है उद्दीपन प्रिया का अपहरण, अनुभाव प्रिया वियोग जन्य विलाप, संचारीभाव, आवेग, मद, उन्मत्तता आदि।

इस महाकाव्य में रुक्मिणी और सत्यभामा के चरित्र में सपत्नीद्वेष वर्तमान है। अत: ईर्ष्यामान विप्रलम्भ शृङ्गार का भी चित्रण जहाँ-तहाँ दिखाई पड़ता है। उदाहरणार्थ — श्रीकृष्ण रुक्मिणी के भवन में शृङ्गारिक क्रीडाएं करते हुये रहने लगे तो सत्या को ईर्ष्या हुई। एक दिन उन्होंने पान, सुपाड़ी एवं चंदनादि सुगन्धित पदार्थों से चर्चित वस्त्र को अपनी चादर के कोने में बांध लिया। जब वे सत्या के भवन में पधारे तो उसने उस सुगन्धित चर्चितांश को खोलकर अंगलेप तैयार किया। श्रीकृष्ण सत्या की इस चपलता पर हंस दिये, जिससे वह और अधिक रुष्ट हुई और ईर्ष्या से जल उठी[1]।

यहाँ रुक्मिणी आलम्बन और श्रीकृष्ण आश्रय है। रुक्मिणी के साथ भोगे हुये भोगों को श्रीकृष्ण सत्या के यहाँ शृङ्गारोचित सापत्निक ईर्ष्या के रूप में व्यक्त करते हैं, अत: रति स्थायीभाव ईर्ष्यामान विप्रलम्भ-शृङ्गार की ही अभिव्यक्ति होती है।

वर्धमानचरित -

'वर्धमानचरित्रम्' के रचयिता महाकवि असग हैं। इस महाकाव्य में अठारह सर्ग हैं और भगवान् महावीर का जीवनवृत्त अंकित है। मारीच, विश्वनन्दी, अश्वग्रीव, त्रिपृष्ठ, सिंह कपिष्ठ, हरिषेण, सूर्यप्रभ आदि के अतिवृत्त पूर्व जन्मों की कथा के रूप में वर्णित है।

---

१ कर्णावतंसितरिवाङ्गनागिर: सत्यया सह विभाव्य केशव: ।
स्वाङ्ग-कल्पनानिलम्पवङ्गक: स्वाङ्गकोत्तिमकरम्भ हसितवान् ॥
— प्रद्यु० ३।४५

पार्श्वनाथचरितम्

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जीवनवृत्त संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी के कवियों के लिये विशेष आकर्षण रहा है। अतः उक्त सभी भाषाओं में पार्श्वनाथ के जीवन-वृत्त को ग्रहण कर महाकाव्य लिखे जाते रहे हैं। वादिराजसूरि का 'पार्श्वनाथचरितम्' बारह सर्गों का महाकाव्य है। यह भी प्रद्युम्नचरित के समान ही अपने रचनाविधान से पाठकों को आकृष्ट करता है।

'पार्श्वनाथ की परम्परा प्रसिद्ध कथावस्तु कवि ने अपनायी है यह कथावस्तु उत्तरपुराण में निबद्ध है। संस्कृत भाषा में काव्यरूप में गुम्फित करने का श्रेय वादिराज को ही है।'[1]

काव्य सरस मार्मिक अनुभूतियों की रसात्मक अभिव्यक्ति है। सम्पूर्ण काव्यात्मक उपकरणों से विभूषित होने पर यदि काव्य रसाभिभूत नहीं है, तो उस काव्य का काव्यत्व सहृदयों को प्रभावित नहीं कर सकता। अतः काव्य में रस का होना अत्यन्त आवश्यक है। प्रस्तुत काव्य का अंगी रस शान्त है और अंगरूप में शृङ्गार के करुण, वीर, भयानक, बीभत्स और रौद्र रसों का नियोजन पाया जाता है।

इस पार्श्वनाथचरित में शृङ्गार के दोनों पक्षों का सुन्दर उद्घाटन हुआ है। किन्तु संयोग शृङ्गार के चित्रों की भरमार है। विप्रलम्भ शृङ्गार का चित्रण कमठ और वसुन्धरा के प्रेमाकर्षण प्रसंग में प्राप्त होता है। मन्त्रिपद प्राप्त करने के उपरान्त कमठ ने अपने छोटे भाई मरुभूति की पत्नी वसुन्धरा को देखा। वह उसके रूप-सौन्दर्य से अत्यधिक आकृष्ट हुआ, उसके अभाव में उसके प्राण जाने लगे। मदन ज्वर ने उसे आकृष्ट कर लिया, उसका विजयी चित्त उसके लावण्य-मधु में फंस जाता है। उस सुन्दरी के अभाव में उसे संसार का वैभव फीका प्रतीत होने लगता है। जब दूती ने वसुन्धरा को आकृष्ट करने में असमर्थ रहने के कारण लौटने में विलम्ब किया तो

---

१ सं० का० के वि० में जै० क० का योगदान, पृ० १७८

शान्तरस एवं स्थायी भाव शम प्रधान काव्य होने के कारण विप्रलम्भ शृङ्गार का चित्रण नहीं के बराबर है क्योंकि सांसारिक विषयों की निःसारता का ज्ञान ही इसका आलम्बन विभाव है ।

महाकवि हरिश्चन्द्र के धर्मशर्माभ्युदय का प्रभाव श्रीहर्षकृत नैषधचरित पर लक्षित होता है । डा० (प्रो) चण्डिकाप्रसाद शुक्ल ने अपने 'नैषध-परिशीलन' नामक शोधग्रन्थ में लिखा है -- 'श्रीहर्ष धर्मशर्माभ्युदय काव्य से पूर्ण परिचित जान पड़ते हैं । नैषध में एक स्थान पर तो उन्होंने श्लेष के सहारे इसका नामोल्लेख भी कर दिया है ।'[1]

नेमिनिर्वाण -

वाग्भट प्रथम का 'नेमिनिर्वाण' महाकाव्य संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधि है । इस महाकाव्य में काव्यचमत्कार के साथ कुछ की मार्मिकता पद-पद पर लक्षित होती है । पन्द्रह सर्गों में तीर्थंकर नेमिनाथ का जीवनवृत्त अंकित किया गया है ।

नेमिनिर्वाण में आलोच्य गुणों, सर्वोत्कृष्ट उक्तियों और परम्परागत अनुभावों का पुंजीभूत रसात्मक रूप पाया जाता है । कवि ने प्रेमियों के मन में संस्काररूप से वर्तमान रति या प्रेम को आस्वादयोग्य बनाकर शृङ्गाररस का नियोजन किया है । शृङ्गाररस के सम्भोग तथा विप्रलम्भ दोनों प्रकारों का चित्रण इस महाकाव्य में हुआ है ।

विप्रलम्भ शृङ्गार का चित्रण एकादश सर्ग में हुआ है, जोकि पूर्वराग अथवा अभिलाष रूप का है । पूर्वराग में प्रेम का अंकुर उसी समय प्रस्फुटित होता है जब नायक या नायिका का रूप भाट अथवा बन्दी के द्वारा गुणों का श्रवण हो और

---

१ नै० परिशीलन, पृ० १४२

और दर्शन इन्द्रजाल में चित्र में, स्वप्न में अथवा साक्षात् हो।[1]

इस महाकाव्य में उग्रसेन महाराज की पुत्री राजीमती का प्रेम साक्षात् दर्शन से उत्पन्न हुआ है, राजीमती बसन्त में जलक्रीड़ा के लिये अपनी माताओं के साथ आती। राजीमती अरिष्टनेमि को रैवतक पर देखती है और उनके लावण्यपूर्ण शरीर को देखते ही अपने तन बदन की सुध भूल जाती है एवं कामबाणों से बिद्ध हो जाती है।[2] कवि ने राजीमती के विरह का अच्छा चित्रण किया है। विरह के कारण उसके शरीर में दाह उत्पन्न हो जाता है। उसको शान्त करने के लिये चन्दनादि शीतल पदार्थों का उपयोग किया जाता है पर ताप और अधिक बढ़ जाता है। उसकी सांसें जल्दी-जल्दी चलने लगती है। गर्म सांसें चलने के कारण[3] मौक्तिक माला कांपने लगती है रात्रि में बेचैनी के कारण निद्रा भी नहीं आती है। सखियों द्वारा प्रेमपूर्वक जगाने पर उसके शरीर में कम्पन होने लगता है और वह कुत्सना भाव हुंकार में ही उत्तर देती है[4]। सखियों ने राजीमती के शरीर पर चन्दन का लेप कर दिया और शय्या पर पुष्प बिछा दिये फिर भी उसका दाह कम नहीं होता और आंसुओं से उसका मुख

---

१ श्रवणं तु भवेत्तत्र दूतवन्दीसखीमुखात् ।
इन्द्रजाले च चित्रे च साक्षात्स्वप्ने च दर्शनम् ॥
— सा० द० ३।१९४

२ तं दृष्ट्वासौ भाग्यसौभाग्यलभ्यं कुमारलीलारमणावगुणाभ्यामनु ।
भिन्ना बाणैः स स्मराणस्य गाढं प्रत्यङ्गेण हेमकम्प्रेण ॥
—नेमि० ११।२

३ शीतैः शीतैश्चन्दनाद्यैरपाकैर्बिम्बोष्ठास्यं भाव्यमाना कुमारी ।
सा निःश्वासोत्कम्पिमुक्ताकलापा निद्रामुक्तां यौवने निशामाप ॥
—नेमि० ११।३

४ दुःखत्वात्सा या वयस्यासु काम्याः कुर्वाणासु प्रेमपूर्णाः प्रवृत्तीः ।
हुङ्कारैः कम्पैर्नोत्तरं दास्येनासौ धन्ना भारणा कुण्ठेन कुण्ठेन ॥
— वही ११।४

उपसंहार

पूर्व पृष्ठों में जिन महाकाव्यों का विवेचन विप्रलम्भ शृङ्गार की दृष्टि से किया गया है, उनका वर्गीकरण इस प्रकार है --

१- राम कथा पर आश्रित महाकाव्य

२- महाभारत कथा पर आश्रित महाकाव्य

३- पौराणिक और अन्य महाकाव्य

४- ऐतिहासिक महाकाव्य

५- बौद्ध और जैन महाकाव्य

रामकथा पर आश्रित विवेच्य महाकाव्य हैं -- रघुवंश, भट्टिकाव्य, जानकीहरण और रामायणमंजरी। इन सब महाकाव्यों में रामायण की किसी न किसी घटना का वर्णन है, किन्तु इन सब की प्रतिपादन शैली में भिन्नता है। इस भिन्नता का कारण है भिन्न-भिन्न महाकाव्यों के रचयिताओं के व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य। इसके अतिरिक्त देश और काल ने भी इन रचनाओं को बहुत कुछ प्रभावित किया है।

चारों महाकाव्य वीर रस प्रधान हैं। रघुवंश में २९ राजाओं का वर्णन है। इसमें कोई श्रृंखलात्मक कथा नहीं है वह तो कई राजर्षियों की मनोरम चित्रशाला है। भट्टिकाव्य या रावणवध २२ सर्गों में विरचित पाण्डित्य प्रधान काव्य है। जानकीहरण महाकाव्य में रामविवाह के साथ महाकाव्य की समाप्ति होने के कारण वीर रस की प्रधानता है क्योंकि राम का लक्ष्य रावण-विजय है। इन सभी कवियों ने अपनी-अपनी दृष्टि से विप्रलम्भ शृङ्गार का चित्रण किया है। रघुवंश, भट्टिकाव्य, जानकीहरण और रामायणमंजरी इन सभी महाकाव्यों में सीता के हरण के पश्चात् प्रवास विप्रलम्भ शृङ्गार का चित्रण है किन्तु भिन्न-भिन्न रूप में। रघुवंश के त्रयोदश सर्ग में एवं जानकीहरण के [illegible] सर्ग में वर्णित वापसी वाले कालिदास एवं कुमारदास दोनों ने लङ्का-विजय के पश्चात विमान से लौटते समय उनके

क्रम से क्राड़ि बाद में हुयी घटनाओं का पिछले वर्णन करते हुये रामचन्द्र जी को अपने वर्ष और पुत्रविरहा का वर्णन करवाता है यह संयोग और विप्रलम्भ शृङ्गार की व्यापिक प्रतीति करवाता है । परन्तु दोनों कवियों की वर्णन शैलियों में भिन्नता है । रामायणमंजरी का क्षेत्र इसकी सुन्दरता और विवेक से किया गया है कि वह मनोरंजन के साथ ही साथ शुद्ध पाठ के निर्णय करने में भी पर्याप्त सहायता मिलती है ।

कुछ आलोचकों ने भट्टिकाव्य पर कृत्रिमता और आडम्बर की अधिकता का दोषारोपण किया है । पर उनके काव्य के विशेष प्रयोजन को ध्यान में रखते हुये यह कहना अनुचित होगा कि उसमें वास्तविक काव्य के गुणों की कमी नहीं। भट्टि ने २२ सर्गों का जो विस्तृत महाकाव्य प्रस्तुत किया है, उसमें रोचकता, मधुरता और काव्योचित सरलता का अभाव नहीं है । इसमें विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण के जाने की घटना से आरम्भ करके रामायण की कथा वर्णित है ।

कोमल एवं सुकुमार भावों की व्यंजना में कालिदास अद्वितीय है । शृङ्गाररस के सम्भोग एवं विप्रलम्भ, इन दोनों पक्षों का जैसा सूक्ष्म एवं मार्मिक उद्घाटन कालिदास ने किया है वैसा संसार के किसी और कवि ने किया होगा, इसमें सन्देह है - कालिदास की शैली में संस्कृत काव्यशैली का चरम रूप प्रस्फुटित हुआ है । इतना तो निश्चित है कि कुमारदास कृत 'जानकीहरण' पर कालिदास की कृतियों का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है । 'जानकीहरण' के कई स्थलों पर कालिदास के रघुवंश की स्पष्ट छाप देख पड़ती है । कुमारदास ने इस रामायण की पुरानी कथा को नवीन कलेवर प्रदान करने का प्रयास किया है । मौलिकता अधिक न रखते हुये भी उनकी वर्णन शैली सुन्दर है । कालिदास की भाँति वे भी वैदर्भी-रीति का अनुसरण करते हैं । अनुप्रास कवि का प्रिय अलंकार है । शब्द कोमल तथा छन्दों के साथ सौन्दर्य के कारण इनकी कविता में अपूर्व माधुर्य का संचार हुआ है ।

महाभारत कथा पर आश्रित विवेच्य महाकाव्य-किरातार्जुनीय, शिशुपालवध एवं नैषधीयचरित है । किरातार्जुनीय एवं शिशुपालवध दोनों महाकाव्य

वीर रस प्रधान है किन्तु दोनों का विप्रलम्भ शृङ्गार मान एवं प्रवास विप्रलम्भ प्रकार का है । किरातार्जुनीय के तृतीय सर्ग में अर्जुन के इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या के लिये जाते समय द्रौपदी का विलाप प्रवास विप्रलम्भ शृङ्गार है और शिशुपालवध के सप्तम सर्ग में युवा वृष्णि वीरों का उनकी नायिकाओं के साथ जो बातचीत हुयी उसमें प्रवास विप्रलम्भ शृङ्गार का परिपोषण हुआ है । इसी प्रकार दोनों महाकाव्यों में मान विप्रलम्भ शृङ्गार का मार्मिक चित्रण हुआ है । माघ का आदर्श भारवि कृत 'किरातार्जुनीय' था । दोनों महाकाव्य की गणना बृहत्त्रयी में की जाती है । माघ में भाव और भाषा दोनों में भारवि की छाया स्पष्ट देख पड़ती है । 'किरातार्जुनीय' कहीं-कहीं क्लिष्ट होने के साथ पाण्डित्यपूर्ण भले हो पर हमारे लिये तो वह साहित्य-सौन्दर्य का आगार ही है । माघ की कविता में प्रतिभा की अपेक्षा पाण्डित्य का प्राधान्य है ।

'नैषध' में २२ सर्गों में नल-दमयन्ती के प्रेम और विवाह की कथा बड़ी सरस शैली में वर्णित है । उनकी प्रथम मिलन-रात्रि का रुचिर वर्णन कर ग्रन्थ समाप्त होता है । कालिदास आदि की भाँति श्रीहर्ष ने भी अपनी कविता का कथानक पौराणिक ग्रन्थ से ही लिया है और उस पर अपनी प्रखर प्रतिभा की छाप बैठा दी । 'नैषध' में वास्तविक काव्यसौन्दर्य तथा शोभाविधायक अलंकारों का मणि-कांचन संयोग है । श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य को 'शृङ्गारामृतशीतगुः' शृङ्गार-रूपी अमृत का चन्द्रमा कहा है । दमयन्ती-रूप के वर्णन में, शृङ्गार-रस की मधुर व्यञ्जना में कवि ने विलक्षण सहृदयता का परिचय दिया है ।

श्रीहर्ष ने नैषध का प्रारम्भ विप्रलम्भ-योजना से किया है । यह काव्य की पुष्टि है । इसी प्रकार नैषध का विप्रलम्भ शृङ्गार अभिलाषा अथवा पूर्वराग के रूप का है । पूर्वराग विप्रलम्भ शृङ्गार का सर्वप्रथम भेद स्वीकार किया गया है । इसकी दसों कामदशाओं का सुन्दर चित्रण है । 'नैषध' में एक ही विषय पर कई श्लोकों में वर्णन मिलेगा, पर नवीन नवीन शब्दावली एवं अभिनव पदशय्या उपलब्ध होती है । शब्द और अर्थ का मनोहर सामंजस्य नैषध में है । श्रीहर्ष की लोक-सामान्य प्रतिभा के फलस्वरूप 'नैषध'-रूपी हीरक के सामने 'किरातार्जुनीय'

का चित्रण है। '[illegible]' महाकाव्य के प चतुर्थ सर्ग में मात्र विप्रलम्भ शृङ्गार का भी चित्रण है। दोनों की वर्णन शैली एवं भाषा में भिन्नता है।

ऐतिहासिक महाकाव्यों में 'नवसाहसाङ्कचरित' विक्रमाङ्कदेव-चरित एवं राजतरंगिणी का प्रमुख स्थान है। 'नैषध' की भाँति 'नवसाहसाङ्कचरित' एवं 'विक्रमाङ्कदेवचरित' दोनों महाकाव्यों में शृङ्गार के भेदों में से विप्रलम्भ शृङ्गार पाया जाता है। विप्रलम्भ के भेदों में से इन महाकाव्यों का विरह पूर्वराग अथवा अभिलाष के रूप का है। 'नवसाहसाङ्कचरित' के रचयिता पद्मगुप्त ने 'नवसाहसाङ्क-चरित' महाकाव्य में ऐतिहासिक शैली का वर्णन किया है। सिन्धुराज नागों के शत्रु वज्रांकुश को पराजित कर नागराज शङ्खपाल की राजकुमारी शशिप्रभा से विवाह करते हैं - इस घटना का विस्तृत एवं कवित्वमय वर्णन करते हुये कवि ने आश्रयदाता के चरित्र पर प्रकाश डाला है। इन्हीं वक्तृताओं तथा विस्तृत वर्णनों से कथा-प्रवाह प्रायः अवरुद्ध हो गया है तथा ग्रन्थ का ऐतिहासिक महत्त्व कम हो गया है। यद्यपि यह काव्य पुरातत्त्व में प्रशस्ति मात्र है, फिर भी यदि इसकी पौराणिक वर्णन प्रणाली और अलंकृत काव्य शैली के बीच ऐतिहासिक तथ्यों की खोज की जाये तो तत्कालीन इतिहास के अनेक विश्वसनीय पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है। पद्मगुप्त की भाषा शैली पर महाकवि कालिदास का प्रभाव देख पड़ता है।

कवित्व की दृष्टि से बिल्हण की कृति स्मरणीय है। इसका मुख्य लक्ष्य काव्य-सौन्दर्य का चमत्कार उत्पन्न करना प्रतीत होता है, ऐतिहासिक विश्लेषण गौण। 'राजतरङ्गिणी' में महाकवि कल्हण ने डेढ़ हजार वर्ष का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास बड़ी सफलता और कुशलता से प्रस्तुत किया है। सच्चे इतिहासकार की भाँति जीवन के प्रत्येक अंग पर दृष्टि डाली है।

बौद्ध और जैन कथा पर आश्रित विवेच्य महाकाव्य हैं — बुद्धचरित, सौन्दरनन्द, चन्द्रप्रभचरित, प्रद्युम्नचरित, वर्धमानचरित, पार्श्वनाथचरित, धर्मशर्माभ्युदय और नेमिनिर्वाण। संस्कृत के बौद्ध महाकाव्यों में अश्वघोषकृत 'बुद्धचरित' एवं 'सौन्दरनन्द' का अपना विशिष्ट स्थान है। शान्त रस प्रधान काव्य होने के कारण

सहायक ग्रन्थ सूची

१- अमरकोश (अमरसिंह), रामाश्रमी व्याख्या, पं० हरगोविन्द शास्त्री,
चौखम्बा संस्कृत सीरीज - १९७० ।

२- अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, डा० राम लाल शर्मा,
हिन्दी अनुसन्धान परिषद दिल्ली- १९५९ ।

३- अलंकारसारसंग्रह (उद्भट), काव्यमाला,
निर्णय सागर, बम्बई, १९१५

४- अभिज्ञानशाकुन्तल (कालिदास), किशोरकेलि व्याख्या, श्री नवकिशोरकर शास्त्री,
चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६२

५- औचित्यविचारचर्चा (क्षेमेन्द्र), काव्यमाला - सं० १,
निर्णय सागर - बम्बई

६- उज्ज्वलनीलमणि (रूप गोस्वामी), श्रीमद्विश्वनाथ चक्रवर्ती,
निर्णय-सागर, पाण्डुरङ्ग, बम्बई - १९३२

७- उत्तररामचरित (भवभूति), उत्तरदीपिका टीका, गुरुनाथ शर्मा,
१३२२ बङ्गाब्दीय [illegible]

८- काव्यालङ्कार (भामह), काव्यमाला, निर्णयसागर, बम्बई १९६३

९- काव्यप्रकाश (मम्मट), आचार्य विश्वेश्वर,
ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी- १९६०

१०- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति (वामन) : काव्यमाला,
निर्णयसागर, बम्बई, १८८६

३४- नलचम्पू (त्रिविक्रमभट्ट), प्रथम उच्छ्वास, संस्कृत हिन्दी व्याख्या

३५- नाट्य लक्षण रत्न कोश (सागर नन्दी) : श्री बाबूलाल शुक्ल,
चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९७२

३६- नाट्य चन्द्रिका (रूप गोस्वामी) : बाबूलाल शुक्ल,
चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६४

३७- नैषध परिशीलन : डा० चण्डिका प्रसाद शुक्ल,
हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९६०

३८- नैषधीयचरित में रस योजना : डा० रविदत्त पाण्डेय, विमल पाण्डेय,
दिल्ली, १९७८

३९- नव रस : बाबू गुलाबराय, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, १९३४

४०- प्रतापरुद्रयशोभूषण (विद्यानाथ) : डा० राघवन,
संस्कृत एजुकेशन सोसाइटी, मद्रास, १९७०

४१- पार्श्वनाथचरित (वादिराज) : पं० मनोहरलाल शास्त्री,
माणिक चन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९७३

४२- प्रद्युम्नचरित (महासेन)
माणिक चन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९७३

४३- बुद्धचरित (अश्वघोष), प्रकाश हिन्दी व्याख्या, चौखम्बा,
विद्याभवन, वाराणसी, १९६२

४४- भावप्रकाशन (शारदातनय) : यदुगिरि यतिराज स्वामी,
ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९६८

४५- भट्टिकाव्य (सर्ग १ से ८) भट्टि : श्री शेषराज शास्त्री,
भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९७९

५७- रस सिद्धान्त-स्वरूप विश्लेषण : डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित,
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, १९६०

५८- रस सिद्धान्त : डा० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९७४

५९- रसराज शृंगार; डा० राम लाल वर्मा, सूर्य प्रकाशन, दिल्ली, १९७२

६०- रस शास्त्र और साहित्य समीक्षा : डा० कृष्ण देव झारी,
भारतेन्दु भवन चंडीगढ़, १९६५

६१- रस कलश : अयोध्यासिंह उपाध्याय, हरिऔध,
हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस, १९५५

६२- रस मंजरी (प्रथम भाग) : सेठ कन्हैया लाल पोद्दार,
जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, मथुरा, १९५७

६३- रस मीमांसा : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा,
१९६८

६४- व्यक्तिविवेक (महिमभट्ट) : श्री राजानककृत पूर्ण संस्कृत व्याख्या,
पं० रेवा प्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६४

६५- वर्धमानचरित (महाकवि असग) : जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले पु० रावजी
सखाराम दोशी शोलापुर, १९३१

६६- विक्रमाङ्कदेवचरित (बिल्हण) : पं० विश्वनाथ शास्त्री,
हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६२

६७- ~~विक्रमाङ्कदेवचरित~~ बाणभट्ट का साहित्यिक अनुशीलन : डा० अमरनाथ पाण्डेय,
भारतीय विद्या भवन प्रकाशन, वाराणसी, दिल्ली १९७४

६८- शब्दकल्पद्रुम (खण्ड २ और ५) : राजा राधाकान्त देव
मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६१